UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182410

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81·6 | P74K Accession No. G·H·1226

Author पोद्दार, रामनाथ

Title काश्मीर | 1952

This book should be returned on or before the date last marked below.

राँची (बिहार) के प्रख्यात विकास विद्यालय के
संस्थापक विद्यानुरागी : श्री रामेश्वरलालजी नोपानी
को
पाटलिपुत्र की यह ऐतिहासिक काव्य-झंकार
सप्रेम भेंट

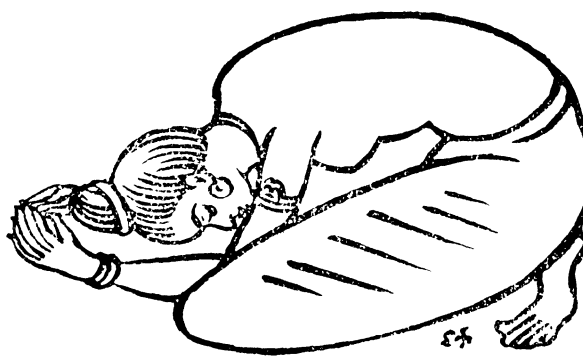

गंगा की एक लहर

कोशा एक कलाकार का ऐतिहासिक चित्र है, जो कल्पना की तूलिका से निर्मित हुआ है। पाटलिपुत्र की उस महान नर्तकी को काव्यात्मक रूप देने में मुझे पर्याप्त प्रसन्नता मिली है। रही सफलता की बात! कसौटी तो यह है कि सर्व-प्रशंसित कला ही सर्वोत्कृष्टता की अलका है। कोशा सत्य और सौंदर्य की कितनी झंकार देगी, मैं नहीं जानता। इतना तो जानता हूँ कि अपने युग के सिद्ध-प्रसिद्ध योगी स्थूलभद्र के कठोर संयमित हाथों से इस अद्वितीय चारित्रिक नर्तकी ने कला की पूर्णिमा-रात में अपनी लाश को उठवा लिया जिसे देख कर आपके मन-प्राणों को भी एक संतोष होगा——गंगा के उस किनारे पर जहां शेष रात की स्निग्ध चाँदनी बादलों के साथ लहरों में नृत्य कर रही है!

कविता के इंगित से कथानक की कल्पना ने इतिहास के मोह को सगर्व त्याग दिया है। मौलिकता की प्रतिध्वनि से जो कलात्मक सत्य निकला है, उसे ही मैं सहर्ष आपको अर्पित कर रहा हूँ, यह कह कर कि कोशा विशाल भारत की सर्व-श्रेष्ठ नर्तकी है, जिसके संगीत-नृत्य-चित्र और काव्य के साम्राज्य में स्वयं सम्राट् नन्द भी एक प्रजा थे। पुरुष और नारी के कठोर और कोमल अन्तर्द्वन्द्व से ध्वनित यह काव्य-कथा आपके सम्मुख है, जो एक साथ गाँधी, गुरुदेव और लेलिन की आलमारियों में रखी जा सकती है। क्योंकि, इसमें जीवन, कला और सत्य की चारित्रिक चित्रकारी की गई है।

वेश्या के गृह के आसपास वासना की वाटिका देख कर आप पुस्तक को बन्द नहीं कीजिए; बल्कि भोगी स्थूलभद्र के साथ वहाँ तक जाइए, जहां पर वह परम सिद्ध योगी के रूप में इतिहास के आसन पर ध्यानमग्न बैठा है; और कोशा अपनी कला-कुटी में जीवन की संध्या देखकर आलोक-नृत्य की तैयारी कर रही है !

पुस्तक की रचना मुक्त छन्द में इसलिए की गई है कि कहानी और उपन्यास के पाठक भी किंचित कठिनाई के साथ इस नई कृति को पढ़ें ।

हिन्दी के नवीनतम युग की उपेक्षा प्रौढ़ और प्राचीन साहित्यकारों के द्वारा की जा रही है । यदि उनके पास सहानुभूति के आँसू नहीं हैं, तो हमारे पास श्रद्धा के कफ़न कहाँ से आएँगे ! अन्त में इतना ही कि—बुला लेगी तुम्हें मेरी साधना !

आषाढ़
पूर्णिमा '५२

कोशा

सर्ग-संकेत			पृष्ठ
प्रथम सर्ग	...	...	६
द्वितीय सर्ग	...	...	१४
तृतीय सर्ग	...	...	२१
चतुर्थ सर्ग	...	...	३४
पंचम सर्ग	...	...	४३
षष्ठ सर्ग	...	...	५१
सप्तम सर्ग	...	...	६३
अष्टम सर्ग	...	...	७८
नवम सर्ग	...	...	९४

प्रथम सर्ग

उस कल्पना की रात में, जब आ रही थी उर्वशी निज स्वर्ग से
सहसा हिमालय पर मुझे उसने कहा—
तुम रोक देना नाव पाटलिपुत्र में,
झंकार की बरसात की काली घटा की गोद में
सोई हुई है एक विद्युत-नर्त्तकी,
जिसके निकट
अलकापुरी उतरी हुई है भूमि पर !
फिर एक दिन मैंने सुना—
उनमुक्त पाटलिपुत्र के इतिहास के उद्यान में
विख्यात कोशा नर्त्तकी का साधना-प्रासाद है
जिस पर कला की पूर्णिमा की स्निग्ध शीतल चाँदनी
एकान्त के आकाश से लहरा रही !
उस शुभ्र नव पाषाण-निर्मित पुष्प पर
शत शिल्पियों की कल्पनाएँ बोलतीं
सुविशाल विस्तृत विविध आम्र-निकुंज में
मृदु कोकिला की कथा उड़ती है हवा के पंख पर !

साहित्य की स्वर्णिम अटारी पर चढ़ी
संगीत-सुषमा की लता की छाँह में,
वह जो उड़ाती है कबूतर प्रेम का, कोमल करो से चूम कर ही,
है वही कोशा—कला की साधिका—आराधिका,
सौन्दर्य की प्रतिमा मधुरिमा से भरी !
रस से भरी उस रूपसी की सुरभि की झंकार से
नित कल्पना सबकी उमड़ी एक स्वप्नानन्द में
झरते जहाँ पर नूपुरों से फूल नव सौन्दर्य के
मृदु प्राण-वाणी से निकलती है विभा की रागिनी
सुकुमारता की चाँदनी फैली हुई है देश में !
सम्पूर्ण अद्‌भुद माधुरी की शक्ति दृग में है छिपी
उल्लास से निकली लहरियों पर लुटाती है प्रभा
जब सान्ध्य नव संगीत का साम्राज्य हँसता है यहाँ !
प्रिय मौर्य की किरणें अभी फूटी नहीं है व्योम में
चाणक्य का मस्तिष्क है उस पार इस झंकार से ।
वह रजत-रथ जो जा रहा पथ पर उधर
है झाँकता जो मनुज कोशा के महल की ओर ही
तुम जानते हो कौन है वह ?
नन्द के साम्राज्य का मंत्री प्रमुख
शकडाल !—जिसको देख कर भयभीत हो जाते सभी,
वह जा रहा कुछ देखता इस ओर ही ।
और,
वे दोनों इधर जो आ रहे हैं
स्वस्थ, सुन्दर, मुग्ध मोहक वेश में
शकडाल के हैं पुत्र—श्रेयक, स्थूलभद्र विनम्रतर ।
गंगा-किनारे भ्रमण के हित आ रहे दिवसान्त में

स्वच्छन्द रथ के अश्व तेजी से निकलते जा रहे
पग से निकलती है मधुर ध्वनि एक चंचल ताल में
जो घेर लेती पथिक को क्षण भर तनिक विश्राम में !
वह अनुज श्रेयक
अंग-रक्षक है विकल सम्राट का
जो समझता है राजनैतिक चाल उस शकडाल-सा
वह जानता है नर्त्तकी की निपुणता की नम्रता
पहचानता है कला की उड़ती हुई झंकार को
वह मानता है अप्सरा की बुद्धि की अनुभूति भी !
सम्राट के प्रासाद में जो चित्र सब से भव्य है,
वह नर्त्तकी की तूलिका से ही विनिर्मित रूप है
जिस रूप में वह स्वयं चित्रित है कला के नृत्य में !
प्रिय चित्र की उस भूमिका में चाँदनी की रात है
औ, एक पतली डाल पर कोयल अकेली गा रही
मधुमास के कुछ फूल खिलने के लिए अकुला रहे हैं
किन्तु भौरा एक रस की रागिनी छलका रहा !
जब देखते सम्राट मोहक चित्र को
नव नयन में मुस्कान आकर बोलती—
"यह तो वही है रूप का साम्राज्य, जिसकी छाँह में
सम्राट भी रहता किसी एकान्त में
औ, शान्त उस संगीत-गृह में बैठ कर
मन-प्राण की मृदु कल्पना कुछ देखती है
वह कला की रात, जो देती सुनहली नींद भी
प्रिय स्वप्न की दो बात होतीं प्यार के आनन्द में !
सम्राट पाटलिपुत्र का है स्वयं स्वप्नाकुल प्रजा
उस कला के साम्राज्य की जो नर्त्तकी के पास है !"

कोशा

गंगा के तट से तनिक दूर
पाटलीपुत्र की प्रिय गणिका
कोशा के उपवन में वसन्त लहराता
सुरभित समीर के संग-संग अँगराता
कोकिल के मधु स्वर में अनंग-सा गाता
कलिका के उर में मादकता भर जाता
लतिकाएँ उसको घेर-घेर
देतीं अपनी माया बिखेर
पर वह वसन्त लेता अरूप मुख फेर-फेर !
उड़ती सुगंध की धूल
फूल हिलते अलि के अनुकूल
विकल
कोमल हिलोर
चंचल झकोर
आते रहते दिन-रात-प्रात
हिल जाते तरु के पात-पात !
आते जनगण संध्या वेला
करने दर्शन नित कोशा के
हँस पड़ते हैं चुपके-चुपके
दो नयन मृदुल अभिलाषा के !
रवि की स्वर्णिम किरणें अनन्त
लहरों की शोभा बन जातीं
जीवन के बहते गीतों पर
अपनी सुषमाएँ फैलातीं !
वह रूप-राशि,
सौन्दर्य-शरद के आँगन की पूर्णिमा विमल

सुन्दरता की मधुरिमा नवल
स्वप्निल निकुंज-नर्त्तकी चपल,
रजनी के पहले आ जाती
साधना-महल से निकल, बाग के ऊँचे टीले पर चढ़ कर
अरुणिमा मिलन में मुसकाती !
फिर तारों के झिलमिल प्रदीप
बन जाते संध्या के सिंगार
वह आती फूलों के घर में
औ' शान्त सरोवर के जल पर
दासी-समक्ष नौका लेकर करती विहार !
बज उठती है आकुल वीणा,
झंकृत हो जाते तार-तार
सुन लेता शशि मन की पुकार
चाँदनी लहर पर मुसकाती
डगमग नौका पर मन्द-मन्द कोशा गाती !
इतने में रंगमहल सुन्दर
शत-शत जनगण से भर जाता
मृदु दीप-श्रेणियाँ हँस पड़तीं
आनन्द-सिन्धु-मन लहराता।
बैठे हैं कितने नृप-कुमार
पंडित, ज्ञानी औ' कलाकार
हैं देश-विदेशों के कितने
प्राख्यात अरबपति, साहुकार
ले रत्नों के अर्थोपहार।
सब आए हैं माँगने कला की नई भीख
सब आए हैं लेने अभिनय से नई सीख

सरसों-शय्या पर,
शत सूई के अग्र भाग पर
कोशा करती नृत्य स्वर्ण पाँखें फैला कर
दीप-कुंज से स्वर-लहरी सहसा टकराती
नपुर के गीतों को ऊपर हवा बुलाती
पृथ्वी पर उर्वशी स्वयं गाने आई है
धरती के फूलों पर अँगराने आई है!
नयनों में वासना नहीं है, प्यार भरा है
प्राणों पर उल्लास-हास-संसार खड़ा है
दुर्बल मानव सुन्दरता से हिल जाता है
उसका पाप कुसुम-सा चुपके खिल जाता है!
कोशा अपने नृत्य-भाव से उसे मिटाती
काम-कल्पना के आँगन में ज्योति जलाती!
होता ज्ञानोदय मानव के तिमिर-कुंज में
स्वर्ण सत्य-शतदल खिल जाता प्रभापुंज में
कला मनुज के प्राणों में आलोक जगाती
कला बुद्धि की आँखों में उर-ज्योति दिखाती!
रंगमहल की उठी यवनिका, कोशा आई
दर्शक की उत्सुकता नूपुर से टकराई!
जैसे बादल-घर से चाँद निकल आता है
घोर घटा को छोर, गगन में मुसकाता है—
उसी तरह कोशा दर्शक के सम्मुख आई
चारों ओर सुरभि-सी अन्तर-सुषमा छाई
किसकी आँखें नहीं खुशी से उड़ीं गगन में
कौन नहीं चल पड़ा नृत्य-सँग वन-उपवन में
आकर्षण है कोशा की कमनीय कला में

आकर्षण है सफल नृत्य की शत मुद्रा में!
संयम का सौन्दर्य प्रेम से बोल रहा है
अन्तर का आवरण विभा से खोल रहा है!
धीरे-धीरे गिरती नील यवनिका सुन्दर
लुप्त हो रहे वाद्य और वीणा के मधु स्वर!

द्वितीय सर्ग

संध्यारुण वेला में
उपवन की एक ओर
स्फटिक शिला-मंच पर
एक गुच्छ यूथिका कपोल से सुस्पर्श कर
भर कर निज अधरों पर मन्द-मन्द मधुर हास
मृगनयनी कोशा कुछ देख रही मार्ग पर!
नयन-वाण-ज्योति के प्रखर निशान नम्र से
आकर्षित कर रही अजान एक प्राण को
जिसका सौन्दर्य-इन्दु,
कल्पना-गगन-वितान में चमक रहा सुदिव्य
जो कि मौन वाणी में सबको ललकारता!
सह न सकी कोशा उस पौरुष का विजय-गर्व
अलकों में बाँध कर अलस अनंग-पुष्प-वाण
रूप-समर के समक्ष खड़ी रही स्वप्न में!
वह कुमार एक बार कोशा को देख कर
घोड़े को रोक तुरत स्वयं भी उतर गया

और सफल नर्त्तकी न रोक सकी हँसी, एक
हासध्वनि दूर तक निकल गई समीर-संग!
हो गया सवार फिर कुमार श्वेत अश्व पर।
इतने में कोशा की एक चतुर सेविका
आ पहुँची राह पर
बोली वह—"हे कुमार! नर्त्तकी बुलाती है"
पर कुमार ने कहा कि उसे स्वयं भेज दो
और स्वयं कोशा ही आ गई समक्ष में
चार नयन चौंक गए एक साथ संगम पर
बातें भी हुई मूक शब्दों के कुंज में!
इतने में सान्ध्य सूर्य हो गया विलीन तुरत
जल गए प्रदीप तीन
नील उस अनन्त में!
और तभी कोशा ने कहा—"चलो हे उदार,
कोशा की कला-कुटी एक बार देख लो
प्रथम बार ही तो मैं करती अनुरोध हूँ
आकर्षण होगा तो स्वयं कभी आ जाना
आना ही पड़ता है कला-छवि-सुगंध-निकट।"
इतने में पूछ दिया फिर उस मोहकता ने—
"नाम पूछ सकती हूँ क्या मैं हे भद्र पुरुष!"
"राज-सचिव-पुत्र स्थूलभद्र,
यही, इतना ही!
आया हूँ यहाँ पिता-आज्ञा से प्रथम बार।"
सिहर गए कोशा के एक बार अङ्ग-अङ्ग
एक नींद नयनों को छू कर उड़ गई स्वयं!
कोशा-प्रासाद-निकट आया प्रिय स्थूलभद्र

ज्योति-पुष्प खिल गए अनन्त के निकुंज में!
यौवन की एक रात
तारों की छाया में
बीत गई स्वप्न-सी,
नयनों में नींद नहीं आई झंकार से
अधरों के गीत, प्रीति-शय्या पर लेट गए
प्राण-प्राण मिल गए अपूर्ण एक रात में
कोशा को प्रथम-प्रथम स्निग्ध शान्ति-ज्योति मिली!
और, स्थूलभद्र को?
एक हृदय मिला स्वच्छ मृदुल कला-स्वप्न में
एक नींद मिली खुले नयन-गगन के समीप
जहाँ जागरण-प्रदीप स्वर्ण स्वप्न देता है
जहाँ गीत स्वयं बिखर जाता है बादल-सा!—

बाँध लेगा मन तुम्हें अब
बीन की झंकार में!

तुम बिजलियों-सी चमक कर
प्रिय, किधर जाते बिखर

घेर लेगा तन तुम्हें अब
स्वप्न के संसार में!

यह घटा की रात है
कितनी मधुर बरसात है

प्रिय, उलझ जाओ तनिक तुम
सुप्त सातों तार में!

अब मुझे पहचानते तुम
जानते भी, मानते तुम

शयन की शय्या बिछा दो
नयन की जलधार में !
बाँध लेगा मन तुम्हें अब
बीन की झंकार में !

मेघाच्छन्न गगन में विद्युत-नृत्य
कोशा पहन रही मुक्ता-मणि-हार
रूप–कक्ष में मुकुर-समक्ष सहर्ष
नपुर से आ रही एक झंकार !
मन्द–मन्द स्वच्छन्द चरण के फूल
स्थूलभद्र चुनता प्राणों के पास
सुन्दरता छू रही अकेली आज
उँगली से चन्द्रिका-स्नात आकाश !
श्यामल स्निग्ध तुकान्त वृष्टि के छन्द
झरते झर-झर अवनी पर विश्रान्त
कोशा जहाँ रुकी प्रिय-सँग, वह नीड़––
दो पंछी-हित कितना है एकान्त

तुम पहली बार नयन में प्रिय घन लेकर आए हो !

उमड़े असाढ़ को कैसे नभ में स्वयं सँवारूँ मैं
बिजली के दीपों से कैसे आरती उतारूँ मैं

भर गया सघन सपने का हर कोना सूना-सूना
तुम पहली बार नयन में जीवन लेकर आए हो !

देखो, सामने वनों में लहराई मेरी आशा
गंगा-सी फूट पड़ी है मेरी पहली अभिलाषा

वह कौन कि मेरे गीतों की चंचल गति को रोके
तुम पहली बार नयन में यौवन लेकर आए हो !

इन गीतों के बादल से सपने प्यास बुझाएँगे
मिलने की हरियाली पर फूलों को बिखराएँगे

फैले मन की धरती पर घन की प्यार भरी भाषा
तुम पहली बार नयन में सावन लेकर आए हो !

जी भर आकुल अन्तर पर पहला प्यार बरस लेना
आँखों की अभिलाषा में अपना सब कुछ भर देना

हिल रही आज हिलकोरों से दो नयनों की बरसात
तुम पहली बार नयन में कम्पन लेकर आए हो !

स्वप्न-नींद-निर्जन घाटी में कौन
देख रही शैलाङ्गन-सरित प्रवाह
लहरों पर उद्वेलित ज्योत्स्ना-स्वर्ग
देवदारु तरु की है काली छाँह !
कोशा पुष्पित झुकी डाल से एक
तोड़ रही कोमल कलिका चुपचाप
सुनता धवल हिमालय केवल मौन
अति विभोर तरुणी का गीत-अलाप—

ओ प्यार ! किसी के प्राणों से टकरा कर मुझे पुकारो तो

चाँदनी रात की छाया में मन आस लगाए बैठा है
सुनसान अजान नदी तट पर संगीत सजाए बैठा है

उठती पुरवैया की हिलोर, आते हैं झोंके पर झोंके
इन उड़ने वाली सुधियों की तितली के पंख सँवारो तो

घन घोर घटाओं के बादल चुन रहे चाँदनी की कलियाँ
नभ के नयनों से झरती है रिमझिम-रिमझिम ये फुलझड़ियाँ

देखता अकेला चाँद मुझे फूलों की मोहक छाया में
ओ प्यार ! किसी की आँखों से मुसका कर मुझे निहारो तो !

तृतीय सर्ग

पाटलीपुत्र की सान्ध्य ग्रंथि का एक पृष्ठ खुल गया
प्रतीची में प्रशान्त तिमिरारुण नीलाकाश-दिवस को
रही देखतीं वृक्ष-श्रेणियाँ काली-काली दूर-दूर से
वहीं ठीक दक्षिण कोने पर मन्द-मन्द
रक्तिम रवि ढलता स्वर्ण क्षितिज के आसपास
किरणों की ध्वनि उठती ऊपर की ओर
जहाँ पर शत-शत विहग अजान
गा रहे रवि के अन्तिम गान!
और उस पार, निशा की एक सजल झंकार
छू रही दिगदिगन्त चुपचाप
शान्त उस नीरवता को हिला
प्राण को किंचित करुणा पिला
बाँस के झुरमुट से कुछ दूर
आ रही सान्ध्य रूपसी मौन
नीलिमा में जीवन को लिए
जलाए कर में तारक-दीप

सँजोए शत शबनम के हार
थकी-सी निर्जनता में लिए
रात का रंजित पहला प्यार!
उड़ रही है फूलों की धूल
भूल के वन में जहाँ समीर
रागिनी से करता है भेंट
सुरभि की सुषमा शुभ्र समेंट
छा रहे नभ के चारों ओर सुप्त तारों के नव संगीत
स्वप्न का वन जगमग हो उठा
कि इतने में प्राची के निकट
बजी उज्ज्वलता की बाँसुरी,
एक निर्मलता की निर्झरी—
अचानक फूट पड़ी चुपचाप!
तिमिर-कुंजों में घन के फूल
गुच्छ के गुच्छ खिल उठे तुरत
चाँदनी की सुगन्ध हँस पड़ी
खुल गए विकल घटा के प्राण
नपुरों में सातों सुर जगे
उठी मधुमयी यामिनी फुल्ल
रूप का रस छलका इस पार
चाँद निकला मेघों के संग
उगा सुन्दरता का संसार
जुही की डाली हिलने लगी
आम्र के वन में उठी पुकार!
घटा का प्रथम प्रदीप्त असाढ़
मधुरिमा की यह पहली रात

मेघ से चाँद, चाँद से मेघ
आज करते खुल खिल कर बात!
पाटलीपुत्र नींद में लीन,
निशा के यौवन का संगीत—
चाँदनी की पाँखें छू रहा घटा को घेर-घेर उस ओर
शयन का कक्ष शान्त, एकान्त
जल रही एक दीपिका मौन
गूंजते हैं वीणा के तार
तार में पावस की झंकार
खेलता स्वर पर घन-मल्लार!
पूर्व के वातायन हैं खुले
चमेली की फैली है लता
खिली है उजली-उजली कली
नयन अधखुले
चाँदनी की छाया से धुले
बरसते कभी-कभी कुछ मेघ
हो रहे श्याम घटा के नृत्य
और, स्वर का समुद्र-संगीत
सुप्त जिस पर बादल की रात—
राग के ऊर्मि-कुंज में मग्न—
अकेली कोशा की वेदना
जहाँ पर है केवल आनन्द
उठ रहे हैं प्राणों के ज्वार
खिल रहे हैं बिजली के फूल मेघ के वन में बारम्बार
चल रही प्रबल वेग से वायु
शान्त गंगा में उठती लहर

हिरन-सी चंचल सरित-प्रवाह
काँप उठते नाविक के प्राण
मध्य में चली जा रही नाव
एक है इधर
एक है उधर
एक में तना हुआ है पाल जो कि उस पार तटी पर रुकी
हिल रही है ज्योत्स्ना की रात
रुपहली आभा का विस्तार—
एक झिलमिल छवि का संसार !
रूपसी कोशा छूती मेघ
मेघ जिससे लिपटी चाँदनी
सिहर उठती मन की रागिनी !
नर्त्तकी की सौन्दर्य पुकार
उठ रही ऊपर बारम्बार
लगी वेणी में उजली कली
कली का एक गुच्छ साम्राज्य
जहाँ पर हँसता विकल अनंग
छू रही मन को एक उमंग
हृदय में केवल तरल तरंग
नयन में इन्द्रजाल की ज्योति
कला पर उतर रही वासना
लिए अभिलाषा में आनन्द
रस भरी स्वर की लहरी कौन
मौन आकर्षण का व्यक्तित्व
बाँधती जिसे एक झंकार
जहाँ पर—

रात
सुधा की मन्द मधुर बरसात
फूल से सज्जित सुधि का गात
मधुरिमा की पहली झंकार
गूंजती चली नयन की ओर
खिल उठा मन-मधुवन-संसार!
लाज की एक किरण चुपचाप
ज्ञान पर खड़ी हुई निष्पाप
प्राण को मिली वसन्त-सुगन्ध
सुरा से हुई चेतना अन्ध!
रूप के तट पर मृदु हिलकोर
कर गया धीरे-धीरे शोर
उठा निश्वास-पवन झकझोर
न सुख का ओर, न सुख का छोर!
प्यार की बहती उज्ज्वल धार
बिछा है स्निग्ध चाँद-शृंगार
उठ रही आकर्षण की लहर
जुही-सी ज्योत्स्ना जाती सिहर!
हुई अभिलाषा की झंकार
बज उठे तार
ताल पर उठी स्वर्ण झंकार
वासना आई मन के द्वार!
गूंजते विकल नृत्य के बोल
झर रहे चरण-छन्द-कल्लोल
प्रेम ने की प्राणों की भूल
खिल रहे मदिर मिलन के फूल

उड़ रही रूप-रश्मि की धूल!
बज रहा रह-रह व्यग्र मृदंग
कामना मधु तृष्णा के संग
छ रही मन को उर्मि-उमंग
घटा में उलझ गया है चाँद
नयन में विहँस उठी मुस्कान
लहर में घिरा अचेतन हृदय
खुल गए अभिलाषा के प्राण!
उठा सरिता में शीतल ज्वार
शक्ति का स्वर्णिम पंख पसार
उठी लहलहा मिलन की लता
कह गया कुछ चुपके गुंजार
यामिनी ढली,
स्वप्न से मिली चाँदनी हिली
हुई सुधि-हीन जुही की गली
वासना अपने गृह में चली!
उषा की अलसाई-सी नींद
नीलिमा में करती झंकार
सृष्टि के लोचन अब खुल रहे
हँस रही प्रात-किरण उस पार!
खले पाटलीपुत्र के नयन
खिले रवि के प्रकाश के फूल
उगा आलोकपूर्ण मार्त्तण्ड
रश्मि की गूंज चुकी भैरवी!
किन्तु कोशा के दृग सुकुमार
देखते अभी नींद के द्वार

जल रहा शयन-कक्ष में दीप
ज्योति लज्जा-सी लगती क्षीण
खुले कोशा के उर्मिल केश
स्वप्न में बिखर गया है वेश
पड़ी हैं पाँच उँगलियाँ वहाँ
नील कंचुकी जगी है जहाँ
छू रहीं वे प्राणों के तार
न आती है जिसकी झंकार!
अचानक गरज उठा आकाश
सुनीं आँखों ने मेघ-पुकार
स्वप्न के टूट गए सब तार
उठी अँगराती कोमल नारि
नारि, जो सुन्दरता की लता
मृदुलता की हँसती पूर्णिमा
सरलता की प्रतिमा साकार!
सरोवर में शत नील सरोज
कमलिनी की शोभा भी लाल
रूप के सजल भार से लदे हुए हैं सुन्दर हरित मृणाल
झुकी मृग-सी मृणालिनी मृदुल
शान्त जल के दर्पण पर मौन
हिल रही है मोहक पंखुड़ी
मत्त अलि करता मधु गुंजार
स्नान करती कोशा चुपचाप
पद्म-कर से जल विमल उछाल
जागते नवल नृत्य के चरण
तैरते लम्बे-लम्बे बाल

दौड़तीं इधर उधर दो मृगी
कपोती उड़ती तट के निकट
मयूरी फैलाती है पंख
तैरते शुभ्र हंस दो-तीन
बज रही गृह-निकुंज में बीन!
नीर से भीगा प्रिय परिधान
खोल कामिनी-लता के निकट
पहनती कोशा नूतन वस्त्र
पीतिमा के बदले में आज अरुणिमा रेशम पर हँसी रही
केश से टप-टप चूता अमृत
कर चुकी सुन्दरता ही स्नान!
खोल वातायन को चुपचाप
किसीने देख लिया यह रूप
रूप, जिस पर वसन्त-साम्राज्य
शरद की सुषमा का संगीत!
"इसी मिट्टी की कोशा बनी
स्वर्ग की प्रतिनिधि छवि सुकुमार
पाटलीपुत्र! तुम्हें ही मिली
और तुमने दे दी यह मुझे!"
सोचता स्थूलभद्र का हृदय
जहाँ उमड़ा है केवल प्यार
जो कि है बँधा किसी के प्रीत-गीत में यहाँ!
किसी के भुजा-पाश में बँधा हुआ है मानव का व्यक्तित्व
किसी सुन्दरता के गृह में सोई है मानव की जिन्दगी
गर्व का चाँद अन्तराकाश देखता रहा नित्य!
धरती के सर्वोत्कृष्ट रूप का मैं स्वामी

जो सुन्दरता की निर्झरिणी-सी बह जाती
सुकुमार हृदय की ज्वाला से कुछ कह जाती
निद्रा की मदिरा पीकर मैं यों सो जाता
तब एक तार को झंकृत कर कोमल कोशा
बेसुध प्राणों को हिला-डुला कर फिर कहती—
"तुम मिले मुझे उस जगह जहाँ जीवन सोता
विश्राम-स्वप्न की छाया की अभिलाषा पर
संतोष एक सम्पूर्ण राग इंगित करता
नारी का प्यासा हृदय जहाँ थक जाता है
रुक जाती है रागिनी एक भूखी-प्यासी
इसलिए तुम्हारे साथ-साथ विचरण कर मैं
पाटलीपुत्र से दूर-दूर तक रहती हूँ
मेरी सीमा में स्वर्ग उतर कर आता है
हर रोज जिस समय तुम रहते मेरे सम्मुख!
मैं स्वयं एक कविता हूँ इस गंगा-तट की
जिसकी स्वर-लहरी दूर-दूर तक फैल रही
मेरी सुगन्ध से सब पागल हो रहे किन्तु
तुम एक मात्र अधिकारी हो इस जीवन के
खो जाता है व्यक्तित्व तुम्हारा नूपुर में
सातों सुर पर अभिलाषा हँसती रहती है!
वह कितना दुर्बल है मानव इस धरती पर
जो रूप-रागिनी से प्रतिक्षण घबराता है
जिसकी आँखें देखतीं नहीं सुन्दरता को
आकर्षण को जो बाँध न पाता सपने में
बिजली की भाषा समझ न पाता जीवन में
योगी है वह जो पचा सके सौन्दर्य-सत्य

भोगी है वह जो सुन्दरता पर जलता है
लेकिन मानव तो
दोनों पथ के बीच-बीच से चलता है!"
चुपचाप सुन रहा मैं केवल
योगी-भोगी की परिभाषा
सोचता रहा मैं मानव हूँ या नहीं
किन्तु कोशा की धारा रुकी नहीं बोलती गई—
"दुर्बलता की आशाओं में
उड़ती सुगन्ध की सत्य-किरण
आलोक एक दिन मिलता है
तिमिराच्छादित जीवन को भी!
इसलिए तिमिर की वंशी में
रागिनी किरण की भी आती
अनुभूति सँजोती प्रखर ज्योति
सुन्दरता के छाया-पथ पर
माया की ममता कह जाती कुछ दूर-दूर की बातें भी
इसलिए सुरभि का कलाकार
जीवन का सच्चा साधक है
साधना उठा देता जीवन धीरे-धीरे
उस अन्धकार के आँगन में आता प्रकाश का एक गुच्छ
मानव देखता उसे भी अपनी आँखों से
पाँखों पर उसको बिठा विचरता धरती पर
उड़ जाता अम्बर के कोने-कोने तक भी
रश्मियाँ निकलतीं उसकी साँसों से अनन्त
मिट्टी से ऊपर उठ जाता मानव-जीवन
कर्त्तव्य ढूंढ लेता आत्मा का चरम ज्ञान

औ' कला रूप को भूल रसों में खो जाती
चेतना जगा देती प्राणों की वाणी को
आनन्द सृष्टि का सत्य स्वयं ही पा लेता
आत्मा की समता जहाँ मौन हो जाती है
संगीत एक होता असीम की सीमा में
आत्मोत्सव की झंकार फैलती सभी ओर!"
कोशा केवल प्रेयसी नहीं, नर्त्तकी नहीं
अनुभूति-ज्योति की वाणी की गीतांजलि है
वह कला-शिल्पिनी मानव को भी गढ़ती है
घन-तिमिर-ज्योति की शय्या पर तो सोती है
पर सत्य-चेतना भी इंगित कर देती है
पाटलीपुत्र की सुन्दरता में सत्य छिपा
मैं इसी सत्य-पथ का उन्मुक्त अपूर्ण पथिक
खोजता कला-आलोक-लोक
सौन्दर्य-कुहा की मोहकता फैली भू पर
ऊपर अम्बर में एक अरुणिमा छाई है!

चतुर्थ सर्ग

उस दिन दोपहरी में जब धरती जलती थी
लू-लपटों की उष्णता हवा पर उड़ती थी
आकाश आग बरसाता था हरियाली पर
रवि स्वयं जल रहा था प्रकाश की ज्वाला से
सम्पूर्ण धरा झुलसी थी भीषण गर्मी से
तप्ताकुल-व्याकुल प्राण कर रहे थे छटपट
मानव ही नहीं, विकल थे पशु-पक्षी गण भी
सब गाछ-वृक्ष-पौधे कुम्हलाए थे भू के !
थी भीड़ लगी पोखरी, नदी औ' कूएँ पर
जलते कंठों का पानी एक सहारा था
पानी पीकर भी प्यास नहीं बुझ पाती थी
विटपों की छाया में मानव सुस्ताते थे—
शीतलता का विश्राम जहाँ पर जलता था !
हरियाली पर सोई थी आग प्रखर रवि की
ज्वाला का रेगिस्तान बनी थी यह धरती
जन-मन की आँधी उठी हुई थी प्राणों पर

अकुलाहट का यौवन अंगार चबाता था
चेतना तिमिर के मरघट पर थी गरज रही
अन्याय जहाँ पर चिता फूंकता था सगर्व !
पाटलीपुत्र में हाहाकार हुआ सहसा
तूफान एक आया मानव के प्राणों का
क्रन्दन का तम संगीत व्याप्त हो गया हाय
निर्धनता की आवाज उठी हर कोने से
भूखी-प्यासी जन की वसुन्धरा चीख उठी
सिंहासन डोल गया मिट्टी के कम्पन से
सम्राट् घिर गया जन-मन के कोलाहल में
दुर्भिक्ष न्याय का एक प्रश्न लेकर आया
लेकिन युग ने उत्तर ही नहीं दिया कोई
कर्त्तव्य जल गया अन्ध स्वार्थ की ज्वाला से
पर आशा की अभिलाषा भाषा में उतरी
उन्नत भविष्य ने देख लिया निष्ठुरता को !
अपनी विस्तृत अमराई में
उस भूख-प्यास की छाया पर
कोशा अपने आँचल से दृग को पोंछ रही,
वह सोच रही,
मानवता क्या इतनी भूखी ?
इतनी प्यासी ?
इतने निर्धन भू के मानव ?
असहाय कोटि मानव-जीवन ?
दुर्भिक्ष-गीत जन के मन में ?
सम्राट् ! तुम्हारा यही न्याय ?
महलों के वासी ! तुम अपराधी हो केवल

झोपड़ी तुम्हारे पापों के चित्रांकन हैं !
दीनता स्वार्थ के पर्वत की ही छाया है
गंगा-यमुना का देश भूख से आकुल है
मैं व्यर्थ कला की वंशी यहाँ बजाती हूँ
महलों तक सीमित रहे बाँसुरी की बोली
अन्याय यही है कलाकार की भाषा में !
भूखे मानव को गीत सुना कर क्या होगा
मन के पहले तन का भोजन देना होगा
अन्यथा कला प्रासादों में मर जाएगी
दुर्भिक्ष-धरा पर कौन नृत्य कर पाएगा ?
कर्त्तव्य नहीं करता मानव
कहता—ईश्वर ही है दोषी !
जल गई बुद्धि की निर्मलता
इसलिए दीनता फैली है इस धरती पर !
समता का सत्य नहीं उतरा हरियाली पर
मानवता का विभ्राट सिन्धु ही सूख गया
दासता फैलती जाती है धीरे-धीरे !"
कोशा ने देखा, आम्र-कुंज की छाया में
सैकड़ों भिखारी के समूह चिल्लाते हैं
दुर्भिक्ष-व्याल फनफना रहा है प्राणों पर
कुछ लोग मृत्यु के तिमिरांगन में सोए हैं
इसलिए वधू भी सिसक सिसक कर रोती है
रोने की भी तो शक्ति नहीं दुर्बल तन में
कंकालों के समुदाय धरा पर बैठे हैं !
तन रुधिर-हीन टेढ़े मेढ़े हैं झुके हुए
सूखी लकड़ी-सी लगती युगल भुजाएँ हैं

हैं धँसे नयन, उनमें भी केवल क्षीण ज्योति !
इतने में थोड़ी हवा चली ठंढी-ठंढी
दो-तीन हिलोरें उठीं विटप की डाली पर
कुछ पके आम चू गए धरा पर टप-टप-टप
कंकालों के भूखे बच्चों ने देख लिया
पर आम पड़े ही रहे, किसी ने नहीं लिया !
कोशा इस घटना को सुदूर से देख रही
वे देख रही दो बूढ़े आते इसी ओर—
करुणा की झोली लिए काष्ठ के हाथों में !
वह स्वयं बढ़ी उस ओर बड़ी तेजी से ही
बूढ़े ने हाथ पसारा कोशा के सम्मुख
कोशा की करुणा मिली क्रोध की ज्वाला से
वह बोल उठी दुर्भिक्ष-स्वप्न की माया में—
"मानव ! तुम भूखे हो, मुझसे कुछ कहो नहीं
यह आम्र-कुंज कोशा का नहीं तुम्हारा है
तुम एक-एक फल को खालो ओ जन-समूह !
यह देश तुम्हारा है, तुम इसके जीवन हो
समता की सृष्टि करो अपने ही हाथों से
सम्राट तुम्हारी दुर्बलता का वैभव है !"
कोशा की समदर्शिनी बुद्धि केवल अनन्त से टकराई
धरती ने सुनी पुकार एक मानवता की !
वह चली स्वयं सम्राट नन्द के नवगृह में
रोकता रहा प्रिय स्थूलभद्र—स्वप्नान्ध पुरुष—
अपनी दुर्बलता की माया की वंशी से
पर कला-पुजारिन रुकी नहीं गति के पथ पर
बज उठी अग्नि-वीणा उसके अन्तरतर में

स्वर लपट-ज्वाल को छूता-सा
उड़ चला चेतना के नभ में !
कर्त्तव्य कला को लिए—
सत्य-अन्वेषण-हित भू पर बिखरा !
कोशा का रथ रुक गया राज-प्रासाद-निकट
उस संध्या में जिस समय चाँद उगता ही था
शीतलता की किरणें उड़-उड़ कर आती थीं
कुम्हलाए फूल झुके थे कोमल वृन्तों पर !
सम्राट चिन्तना-भार लिए
दोनों हाथों को बाँध उँगलियों से अपनी
आते-जाते थे बार-बार उपवन के एक हरित पथ पर
दुर्भिक्ष-प्रश्न मस्तिष्क-नयन के सम्मुख था
वेदना-तरी बहती थी चिन्तन-धारा पर
लहरों के शत संघर्ष उठ रहे थे ऊपर
दोनों तट पर हिलकोरें आती जाती थी !
उस एक तटी पर लिए चाँदनी की शोभा
गंभीर स्वप्न के संग विकल कोशा आई
सम्राट अचंभित हुए देख सुन्दरता को
चिन्तन की चंचलता विलीन हो गई तुरत
उद्यान-मंच पर दोनों बैठ गए क्षण भर
ज्योत्स्ना की माया में प्रसन्नता जाग उठी
सम्राट पूछने लगे स्वयं प्रिय कोशा से—
"नर्त्तकी ! कहो तुम किस अभाव में आई हो ?
यह समय तुम्हारा मूल्यवान कितना है पर
तुम यहाँ चली आई उदारता के गृह में
यह निष्ठुरता है या कि स्नेह की उज्ज्वलता भींगी भीगी ?

चतुर्थ

सम्पूर्ण कला की सुषमाओं व
नर्त्तकी हो गई खड़ी सत्य के
नयनों में ले गंभीर दृष्टि का
वह एक चित्र की मुद्रा-सी प्र
सम्राट हो गए मौन
जिस समय कोशा ने वह चि
जिसमें कंकालों की ज्वाला कु
मरघट के तट पर जहाँ कि मुद
अबलाओं का क्रन्दन जीवन में
जिस समय उन्होंने चित्र लिया
कोशा ने दिया प्रदीप एक झि
उस प्रखर ज्योति में कला-सत्य
उस कला पुजारिन की आत्मा ह
वह आत्मा, जिसको देख रहा स
चाँदनी रात की शीतलता की छ
कोशा ने देखा,
एक बूंद !
अन्तर की आँखों के आँसू का एक
गिर पड़ा चित्र के प्राणों पर उस
जीवन मरघट की एक चिता पर च
वह बूंद अभी भी उसी तरह है सज
वेदना सृष्टि की जहाँ चीखती है र
औ' प्राण काँपते हैं थर-थर उस आँस
कर्त्तव्य कला के इंगित पर कुछ सोच
सम्राट अश्रु को पोंछ रहे कोशा के उ
औ' एक बार,

को देख लिया
निर्मल फूलों से
।!
रुक सका नहीं उस उपवन में
शान्त हुई
से धुल गया स्वयं
ज्वसी कोशा से—
कला के प्राणों से
मने वह संकेत दिया
प्रेरणा मिली आज
सत्य की छवि-छाया
, प्रतिमा !
तुम्हारी देश-भक्ति
ायल हो जग के वन में
फल है कलाकार !
ा नहीं
कला रहती अपनी ही भाषा में
ी गई उस पार जहाँ
कल रही थी एक ज्योति
झूते थे सम्राट स्वयं
कोशा का सुखद चित्र
ीं, किन्तु बनने को था !
ोपुत्र के दुर्ग-निकट
है रुका हुआ प्रिय कोशा का,
स्तब्ध वहाँ
र चली गई जलती-जलती

जीवन का अन्तर्द्वन्द्व उठ रहा है मन में—
"क्या मुझसे भी सम्राट अधिक गौरवशाली ?
कोशा का कला-पारखी क्या मुझसे बढ़ कर ?
मै पूछँगा बस एक प्रश्न अपनी प्रिय से—
सम्राट प्यार से बड़ा या कि छोटा ही है !"
इतने में वह नर्त्तकी द्वार पर पहुँच गई
सम्राट स्वयं आए उसको पहुँचाने को
औ' स्थूलभद्र,
उस स्वर्ण खंभ की स्निग्ध आड़ में छिपा रहा !
पर कोशा की हिरनी आँखों की दृष्टि वहाँ तक पहुँच गई
वह जान गई उस विकल प्राण की भाषा को
जिस भाषा के वन में आया था व्यग्र प्रेम !
सम्राट महल की ओर चल पड़े मन्द-मन्द
सारथी एक इंगित से रथ पर बैठ गया
कोशा ने कहा—"चले आओ ओ स्थूलभद्र !"
अपने घोड़े को चलने दो पीछे-पीछे ।
यह कह कर वह खिलखिला उठी
यह हँसी दूर तक नहीं पहुँच पाई लेकिन
केवल प्रहरी ने सुनी निशा-निर्मलता में !
बीते अकाल के सात दिवस जैसे-तैसे
कोशा की उत्सुकता मनुष्य को देख रही
सम्राट-घोषणा फैल गई अग-जग-मग में
जनगण को मिलता अन्न राज्य की छाया में !
उस दिन कोशा की अमराई में एक साधु भिक्षुक आया
नर्त्तकी गई मिलने प्रभात की वेला में
उस श्रमणसंत ने कहा—"देवि, तू धन्य नारि ! "

दुर्भिक्ष-काल में तूने आम्र-निकुंजों के
प्रत्येक वृक्ष के फल को बाँट दिया मन से
तेरी विनम्रता के गृह से फैलेगी ज्योति-किरण स्वर्णिम
कल्पना सत्य को बाँध सकेगी जीवन में !
उत्फुल्ल हुए कोशा के प्राण इसे सुन कर
भिक्षुक के चरणों पर उसने रख दिए अश्रु
रख दी कोमल मुस्कान आत्म के अधरों की
रख दी अपनी वन्दना मौन रवि के समक्ष !
उस जगह एक जन बैठा था तरु-छाया में
उसने भी प्रिय कोशा से सहसा पूछ दिया—
"नर्त्तकी ! अतुल सम्पत्ति की जननी ! क्या तुमने
सोने की मुद्राओं को छिपा लिया गृह में ?"
"ऐसा न कहो हे पुरुष !
लाख मुद्राओं से मैंने भी वस्त्र खरीदे हैं
भिखमंगों के तन पर जो लाल वसन हैं, वे
इस दासी की मुद्राओं से ही आए हैं !
लज्जित न करो तुम मुझे श्रमण भिक्षुक-समीप
मुझको जो करना था वह मैंने किया स्वयं
साक्षी है मेरी कला और मेरा जीवन
कुछ गीत दिए हैं मैंने मिट्टी के मन के
अब और अधिक क्या दे सकती हूँ मैं जग को
करती हूँ केवल भूख-नृत्य सच्चाई पर
तूफानों को अभिव्यक्ति सत्य की देती हूँ
सबको कुछ श्रम देना सुधर्म है धरती पर !"
वह सुनता ही रह गया नर्त्तकी की भाषा
कोशा रथ से चल पड़ी स्थूल' के संग-संग
ललकार रहा सारथी अश्व को बार-बार !

पंचम सर्ग

पाटलीपुत्र की राज-सभा में एक बार
मच गई एक खलबली,
व्याप्त हो गई एक सनसनी सचिव की हत्या से !
सिंहासन के ही आसपास बह गई खून की निर्झरिणी
सम्राट चौंक कर खड़े हो गए स्वर्ण मंच की एक ओर
आश्चर्य-तिमिर में एक बार छिप गए सभी के प्राण-प्राण।
विस्मय का केवल एक प्रश्न था मौन, स्तब्ध
उत्तर देने वाला श्रेयक हत्यारा था
जिसके हाथों में खून लगा था मंत्री का
शकडाल सचिव उसका ही तो था पिता हाय
पापी कुपुत्र निष्ठुर ने उसको मार दिया !
कैसा प्रपंच, कैसा यह छल है जीवन का
श्रेयक तो ऐसा कभी नहीं था, कभी नहीं
ऐसा सुयोग्य जिस पर शकडाल स्वयं गर्वित
उसके सुबुद्धि-बल का सदैव अभिमानी था
कहता था—श्रेयक लोहे का है बना हुआ

पाषाण-वज्र-सा उसका वक्षस्थल उन्नत
उन्नत विचार धारा उसकी चारित्रिक है
दुर्बलता से है दूर, बहुत ही दूर सदा
नारी के आकर्षण से भी अत्यन्त दूर
न्यायी इतना कि नीर से क्षीर अलग !
सम्राट-अंग-रक्षक मंत्री का ही खूनी ?
यह राजनीति की प्यास रक्त से बुझी हाय,
यह राजनीति की भूख मृत्यु से मिटी सिर्फ
अन्याय, घोर अन्याय हाय !
सम्राट इसे दो प्राण-दण्ड
अपराध मरण का, स्वयं मृत्यु
खूनी को खून करो केवल
प्राणों का हिंसक प्राणों से ही रहे दूर
इंसाफ माँगता रुधिर-रक्त !
श्रेयक का खून समर्पित करो सुसत्य-निकट
जल्लाद हाथ में लो अपनी काली कटार
इस राज भवन के खूनी पर कर दो प्रहार
दो काट शीघ्र ही अंग-अंग
हत्यारा पापी है, अपराधी घोर-घोर
—यह है क्रोधित जन-मन-प्राणों का करुण शोर !
श्रेयक केवल गंभीर, मौन
रक्तिम कम्पित तलवार नयन-मन के सम्मुख
गर्वित ललाट चमकीले पत्थर के समान
जिस पर शत-शत श्रम विन्दु तरल
अभिमान पूर्ण मुद्रा पर क्रोधित आकर्षण
वीरता भरी मुस्कान अधर के आसपास

एकाग्र दृष्टि में ज्योतिर्मय संतोष एक
दाँतों के नीचे विकल घृणा की नव ज्वाला
भौहें कमान-सी चढ़ी हुई
रुक-रुक कर लम्बी साँसों का आना-जाना--
सबने देखा,
फूटा रहस्य का एक घड़ा
हो गए सभी पानी-पानी
खूनी ने प्रश्नों का उत्तर दे दिया स्वयं--
कपटी मंत्री सम्राट-प्राण का भूखा था
इसलिए आज मैंने उसका सिर काट दिया
थी राज-भक्ति मेरी आकुल-व्याकुल कब से
मैंने अपना कर्त्तव्य निवाहा है केवल
सम्राट ! सत्य के लिए खून मैंने पीया
है पितृ-धर्म से बढ़कर मेरा राज-धर्म
मैं क्षमा नहीं माँगता अगर अपराध हुआ
है मृत्यु-दण्ड स्वीकार मुझे यदि हो आज्ञा
श्रेयक का मस्तक प्रस्तुत है सबके समक्ष !
इतना कह कर वह बैठ गया निज आसन पर
सिंहासन पर सम्राट बैठने वाले थे
पर शेष सभासद खड़े हुए थे विस्मय में
श्रेयक का स्वर-सौन्दर्य गूँजता था केवल
लगता था कोई देवदूत ही आया है
कितना निर्भय व्यक्तित्व लग रहा है उसका
सन्नाटे में पौरुष की ज्वाला जलती है !
सम्राट हुए उतना हर्षित जितना न कभी थे जीवन में
वे बोल उठे--"हे महावीर

तुमने जीवन को उठा लिया
तुम स्वयं अभी से महा सचिव
पाटलीपुत्र के गौरव ! तुमने ठीक किया
हे राज-भक्त ! सम्राट तुम्हारी देश-भक्ति से गदगद है
तुम पुरस्कार के नहीं, प्रेम के महापात्र !
मैं जान रहा था कुछ दिन से षड्यन्त्र-जाल
फिर भी विश्वास मुझे था अपने मंत्री पर
पर तुमने सत्य निकाल लिया चुपके-चुपके
तलवार तुम्हारी न्याय ढूंढने वाली है
तुम स्वयं महा मंत्री-पद पर बैठो सगर्व
पाटलीपुत्र का सचिवासन यह खाली है !
श्रेयक ने अपने सिर को थोड़ा झुका लिया
कह दिया नम्रता भरे शब्द में—"हे राजन् !
इस पद के तो अधिकारी केवल स्थूलभद्र
जो मेरे बंधु प्रतापी कोशा के गृह में
बारह वर्षों से कला-कुंज में रहते है !
सम्राट देखने लगे वीर का मुखमण्डल
सोचने लगे कितनी विनम्रता है इसमें
श्रेयक के पास हृदय मस्तिष्क बराबर है !
वे बोल उठे—"ऐसा ही होगा हे प्रवीर !
हम उसे बुलाते हैं कोशा के आँगन से ।"
हो गई आज की सभा भंग
श्रेयक के सँग सम्राट चले अन्तःपुर तक ।

× × ×

गंगा के तट पर चिता जल रही लाल-लाल
जल रहा बुद्धि का महाबली शकडाल स्वयं

जल रहा एक आकुल रहस्य अंगारों में
चिनगारी उड़-उड़ कर श्रेयक को रुला रही
गंगा के तट पर स्थूलभद्र भी बैठा है
जीवन को जलते देख रहा है आँखों से
उस कलाकार का हृदय काँपता है थर-थर
वह पहली बार चिता के सम्मुख रोता है
प्राणों के पर्वत से जो गंगा निकली है
वह नयनों के समतल प्रदेश से बहती है
मन की नौका धारा पर बहती चली गई
उस पार जहाँ पर खड़ा-खड़ा वह सन्यासी
कहता है—मानव, सपने की निद्रा तोड़ो
ढूंढो जीवन का ज्ञान चिता की ज्वाला में
यौवन की मदिरा पियो नहीं हे स्थूलभद्र !
नयनों के जल में स्वर्ण कमल जो खिलता है
वह सूर्योदय से नहीं, आत्म-ज्ञानोदय से !
कोशा की सुन्दरता भी तो जल जाएगी
उसके भी काले केश जीर्ण हो जाएँगे
थक जाएगी आकर्षण की आँधी जीवन में एक रोज
तुम पा न सकोगे कुछ भी प्रिय-सुन्दरता से
कर्त्तव्य बहुत है कठिन, तुम्हें करना होगा
ये ढेर हड्डियों के हैं देखो इधर-उधर
सुन्दरता का सत्यान्त यही है, इतना ही !
तुम देख चुके हो सुन्दर तन,
आकर्षक मन,
चंचल यौवन
चुम्बित आलिंगन का कम्पन

वासना-कुंज के फुल्ल नयन,
पर, आज तुम्हारे सम्मुख
इन खोपड़ियों में हो रहे आत्म के चिर दर्शन।
ओ स्थूलभद्र, जागो जल्दी
तुमने जीवन को देख लिया
जीवन है सचमुच एक मरण !
देखो, वह मुर्दा पड़ा हुआ है दूर-दूर
गृद्धों का दल उसकी छाती पर बैठा है
दुर्गन्ध निकलती है कितनी सुन्दरता से !
ढूंढ़ो आत्मा की शुभ्र ज्योति
कुछ नहीं और, कुछ नहीं और
केवल रे केवल आत्मा-ज्योति
मानवता की सम्पूर्ण शक्ति
जीवन का चरम अखण्ड ज्ञान !"

× × ×

नौका आई इस पार पुनः
हो रही चिता प्रज्वलित अधिक
श्रेयक से कहता स्थूलभद्र—"हे विकल अनुज
तुम पिता-मृत्यु से दुखी न हो
उनकी आज्ञा से ही तुमने की है हत्या
तुम विवश हुए उनके कठोर आदेश-निकट
षट्यन्त्र किसी ने किया पिता के ही विरुद्ध
पर हुए सशंकित मंत्री पर सम्राट स्वयं
थे नीति-निपुण, जीवन-दर्शी गंभीर पिता
कर लिया सुरक्षित सचिवासन लेकर सुमृत्यु !
तुमने प्रस्ताव किया है मेरा नाम बंधु !

मैं राजनीति को नहीं चाहता प्राणों से
यह छल-प्रपंच का जाल न मुझको भाता है
सम्राट रहें खुश और प्रजा भी हो प्रसन्न
यह केवल कठिन कार्य ही नहीं, असंभव है
शोषण शासन दोनों हो, यह कैसे होगा ?
मैं नहीं चाहता हूँ मंत्री होना श्रेयक !
तुम स्वयं सँभालो इस पद का गुरु भार अनुज,
कुछ सपने देखे हैं मैंने नवजीवन के
परिवर्त्तन के पथ पर अब चलने वाला हूँ
उस पार––तिमिर के पार प्राण टकराते हैं
संघर्षों के संदेश कहीं से आते हैं !
जल गई चिता धीरे-धीरे गंगा-तट पर
हो गई साँझ, छा गया तिमिर, हो गई रात
औ' स्थूलभद्र चल पड़ा कहीं अति दूर-दूर
चरणों में गति है, नयनों में है एक ज्योति
तूफान जा रहा वहाँ, जहाँ पर स्वर्ण शान्ति,
निर्मलता का आकाश बुलाता है मन को
वह धरती रही पुकार जहाँ पर सत्य खड़ा
वह चला जा रहा जैसे कोई लिए जा रहा है मन को
कोशा कर रही प्रतीक्षा अपने पाहुन की
उत्सुकता ही विहगी उड़-उड़ कर देख रही
बीती रजनी, बीता दिन भी, आई, रजनी, आया दिन भी
पर स्थूलभद्र आ सका नहीं !
आया वसन्त, आई वर्षा, आ गई शरद ऋतु की शोभा
पर आ न सका वह स्थूलभद्र
कोशा का वातायन वर्षों तक खुला रहा

नत्तकी झाँकती रही द्वार को खोल-खोल
नयनों के पानी से आँचल भींगता रहा
परदेशी आया नहीं प्रेमिका के गृह में
संगीत-नृत्य सब मौन कर गया कौन ?
कहीं से आई नहीं पुकार
खुला ही रहा प्यार का द्वार
मेघ पर मेघ
घटा पर घटा
खिले बिजली के कितने फूल
उड़ी वासन्ती सुरभित धूल
किन्तु
प्रिय गया प्रिया को भूल !
नारी उदार
सुन सकी नहीं परिचित पुकार
दो स्वप्न हुए विच्छिन्न
एक इस पार
एक उस पार !
कहीं आँखों में केवल ज्योति
कहीं आँसू की उजली धार
उधर संयम का है मध्यान्ह
इधर बिछुड़न की आधी रात
किसी के प्राणों में झंकार
किसी के जीवन में अंगार
कौन तुम ज्ञान-समुद्र महान
कौन तुम कला-निर्झरी-वेणु !

षष्ठ सर्ग

निज शयन कक्ष की शय्या पर
कोशा अतीत के चिन्तन में डूबी-सी है
वासन्ती निशा दिशाओं में भरती सुगंध की मधुर रेणु
चाँदनी रूप की रजत-वेणु को बजा रही
रस-स्नात समीरण मन्द-मन्द गति में बहता
उन्मत्त उष्णता शीतलता में विचर रही
कोकिला आम्र-कुंजों से जब कुछ कहती है
कोशा के मदिर नयन भर आते उसी समय
कोमल कपोल के फूलों पर प्रेमाश्रु बिखर जाते सहसा !
पूछता पंचशर—"क्यों कोशे ! क्यों हो उदास ?
नर्त्तकी तुम्हारा प्रेम एक के लिए नहीं
सीमित मत हो हे नारि ! किसी की छाया पर
माया की मोहक छटा फैलने दो सब पर
सौन्दर्य तुम्हारा नहीं व्यष्टि के लिए कभी
तुम दीप-शिखा हो, जलने दो सबको छवि पर
जलने वाला कोई-कोई ही आता है

कोशा

जल कर जीना आसान नहीं है जीवन में
नर्त्तकी सँवारो केशों का साम्राज्य सघन
आकर्षण के इंगित से तनिक पुकारो तो
आएगा कोई स्थूलभद्र नूतन विनम्र
जो आलिंगन की स्निग्ध छाँह में सोएगा
भुज-लता-कुंज में रुका रहेगा जीवन भर
इच्छा की नौका पर विहार कर पाएगा
यौवन-अन्तर-सरिता की चंचल धारा पर !
तुम प्रिय–वियोग में व्यर्थ हो रही हो विचलित
नूतन रस संचय करो किसी के प्राणों से
नाचो, नाचो, नर्त्तकी उम्र चढ़ती जाती
यौवन को मत रहने दो हे तरुणी अतृप्त
ढूंढो रस-कलश कहीं पर प्यासी वेला में
आनन्ददायिनी ! तुम न पात्र को रिक्त करो
अब हरो वेदना की ज्वाला अन्तर तर से
सुन्दर सपने का इन्द्रजाल निर्माण करो
आह्वान करो अभिलाषा के हर्षोत्सव का !
निष्ठुर प्रिय-चिन्तन से न लाभ होगा कुछ भी
उसमें भी तुमतो कला-शिल्पिनी हो नारी !
एकाकी कैसे सृजन करोगी सपने का
तूलिका चाहती तरल भावना की छाया
तब सफल कल्पना उड़ती चपल तितलियों-सी !
मेरे सम्मुख भी तुम चुप हो कोमल कोशे,
मैं हूँ अनंग, मन की बातें बतलाता हूँ
तुम बाँधो अपनी वेणी को मधु गंधों से
मोहकता का शृंगार स्वयं मैं ही दूंगा

मोहिनी ! नृत्य की सामग्री तैयार करो
चरणों में बाँधो स्वर्ण नूपुरों की सुषमा
तुम बनो स्वयं उर्वशी—स्वर्ग की प्रिय उपमा !"
कोशा मन-ही-मन सुनती पुष्पित प्रणय-कथा
पर व्यथा विरह की, सींच रही निर्मलता को
उज्ज्वलता के आँसू धो देते तिमिर-चित्र
विह्वलता रुक जाती शीतलता के समक्ष !
किसकी उदारता की ज्योत्स्ना फैली उस दिन
धीरे से किसने खोल दिया था बन्द द्वार
वासना-स्नात मेरी आँखें थीं खुली हुई
प्राणों में दुर्बलताएँ गुंजन करती थीं
प्रिय के अभाव की वेला की वह दोपहरी
आकाँक्षाओं की बदली से थी घिरी हुई
अभिलाषा बिजली की गति से थी लिपट गई
झंकार एक निकली थी अन्तर्वीणा से
गीतों की उत्सुकता पर साँसें चलती थीं
लेकिन मेरी लज्जा का संयम था समक्ष
जिसके कर में जलता था ज्वलित प्रदीप एक
आलोक-शिखा से उठती थी ध्वनि जीवन की
जिसको सुनता था केवल निर्मल सजल प्रेम
थे मेरे प्रिय मेरे प्राणों के आसपास
मेरी विनम्रता देख रही थी शुभ्र चरण
जिस पर मेरी आँखों के आँसू झरते थे !
तब से मेरी सुधि की निर्मल गंगा बहती
लहरों की निर्मलता में खो जाती हूँ मैं
स्वप्निल नौका पर केवल प्रिय ही रहते हैं

दूसरा न कोई नाविक आता है उस पर
मैं रहती हूँ अपने ही प्रिय के संग-संग
आँधी उठती,
तूफान उठा करता है कभी–कभी पथ में
मैं कभी न विचलित होती हूँ संघर्षों से
मेरे मन में केवल इतनी ही तो आशा
वे आएँगे, आएँगे निश्चय एक रोज
तब तक कोशा का दीप अकेला जलता है !
नारी ने प्रेम किया है प्रिय नर्त्तकी नहीं
कोशा की कला निरखने वाले लाखों थे
लेकिन कोशा का हृदय मिला केवल उसको
जो आया था कोशा के कोमल प्राणों में !
आने वाले थे तुम्हीं एक हे स्थूलभद्र,
तुमने ही मेरे जीवन पर अधिकार किया
तुमने वह अमृत दिया प्राणों को प्रथम बार
चुम्बित अधरों के प्रणय-द्वार से आकर ही,
वह नींद मिली तुमसे ही पहली बार मुझे
जिसमें जीवन के सभी चित्र थे जगे हुए
मंगल बन्धन में बँधी हुई अभिलाषा थी
आशाओं के इतिहास-पृष्ठ थे खुले हुए
निर्झरिणी मिली हुई थी अपने सागर से !
उस शुभ्र शरद की शोभा में
उत्फुल्ल काश की शय्या पर
हम दोनों सोए थे चुपके
चाँदनी रात गंगा-तट पर जब हमें सुलाने आई थी
शीतल समीर की चंचलता से हिलती थी जब हृदय-लता

आँचल की दोनों कुमुदियाँ थीं खिली हुई
उत्तेजित साँस-सुरभि पर आशा उड़ती थी
कामना पकड़ कर लाई थी दो हंसों को
उजले बादल के वन से इच्छा आई थी
कल्पना-तरी से उतरी थी सुधि-हीन-शक्ति
पल्लव-वितान-वातायन से उन्मत्त चाँद कुछ कहता था
मैं सोई थी सपने में जैसे—
हरसिंगार की कली चाँदनी में थी आँखें बन्द किए
आनन्दमयी निष्ठुरता के शत चुम्बन से
कमनीय कुसुम-पंखड़ियों पर
जागने लगी थी अमिय-किरण !
इतने में हम दोनों उठ कर
नौका लेकर कुछ दूर चले
उस शरद-निशा-निर्मलता में
एकान्त, शान्त गंगा की उज्ज्वल धारा पर
जागे प्राणों के सप्त तार उस पार जहाँ
बालू के ढेरों पर हम दोनों बैठे थे
लम्बे-लम्बे दो ताड़ खड़े थे आसपास
उस जगह पपीहे की पुकार भी आई थी
था एक आम्र का वृक्ष ताड़ से तनिक दूर
जिसमें गायों के झुण्ड दिखाई पड़ते थे !
थी नींद आ रही मुझे वहाँ भी रह-रह कर
मैं स्थूलभद्र के स्कंध-सहारे बैठी थी
नीला आँचल लहरा उठता था बार-बार
निद्रित लज्जा प्रिय की छाया में सोई थी !
जब चाँद छिप गया था उजले बादल-गृह में

चंचल समीर के झोंके से वह रिक्त नाव
खुल कर कुछ दूर निकल भागी थी धारा पर
तैरने लगे थे प्रिय मेरे तब मुझे छोड़
मैं एकाकी हँसती-सी उन्हें निरखती थी
भींगे वस्त्रों को देख स्वयं मैं भी भींगी
भींगे ही हम दोनों पहुँचे अपने घर पर
खिलखिला उठी थी देख हमें मेरी दासी
मैंने तब उसे सप्रेम क्रोध से डाँटा था !
पर बीत गए मेरे वे दिन सुख के अपने
दस वर्ष विरह के बीत गए धीरे-धीरे
यौवन की कली खिली नयनों के जल से ही
निष्ठुर निर्मोही चले गए क्यों पता नहीं
मैं रात-रात भर जाग-जाग कर रोती हूँ
तूलिका उठा कर उनके चित्र बनाती हूँ
चित्रों के सम्मुख नाच-नाच कर गाती हूँ
उस दिन राज्योत्सव में भी मै जा सकी नहीं
जाती कैसे ? थी चमक रही बिजली दृग में
सुधियों की घटा उमड़ती थी मन के वन में
झकझोर रहा था प्राणों को पागल समीर !
आए थे श्रेयक—स्थूलभद्र के स्वयं अनुज
मेरे वियोग के पृष्ठ उलटते जाते थे
उनके नयनों से भी मोती थे ढुलक रहे !
तब से वे आते कभी-कभी संध्या वेला
जब नील गगन में खिलते तारक के प्रसून
जब सान्ध्य विहग आ जाते हैं निज नीड़ों में--
मैं प्रेम-प्रतीक्षा के गृह में बैठी रहती

वीणा के तारों में सिसकियाँ जगाती हूँ
तप रहा स्वर्ण मन विरह-अग्नि में लगातार
कंचन की सुरभि निकलती मेरी साँसों से
मैं गीत नहीं लिखती थी, वह भी लिखती हूँ
प्रत्येक शब्द से अश्रु खेलने लगते हैं
पीड़ाओं का उल्लास काव्य को छू देता
कविता की निर्झरिणी नयनों से झरती है
चंचल प्रवाह पर यह जीवन बहता रहता
सम्पूर्ण कला में खो जाती मेरी पुकार
संगीत, नृत्य, कविता, सुचित्र सब एक साथ
मेरी कल्पना निरखती स्वप्निल आँखों से
सुन्दरता झुक जाती भावना-प्रसूनों से
झर जाती है कलियों की पंखुड़ियाँ छोटी
झंकार बनाती एक हार धीरे-धीरे
पावस के मेघ उड़ा ले जाते प्राणों को--

गीति-घटा

कब तक बिजली चमकाओगे
अब तो मेघ बरसने दो हे!

जलन-ज्वाल से विकल प्राण-मन
झुलस रहा जीवन का जीवन

मेरे संचित सघन घनों को
तन पर तुरत बिखरने दो हे!

तप-तप कर ही वाष्प बनी हूँ
विस्तृत नभ में स्वयं तनी हूँ

उस वितान को विमल अनिल के
स्वर से तनिक सिहरने दो हे!

घटा—जलन – जीवनकी छाया
प्रकृति – मोहिनी हर्षित माया

गरज चुकी पावस की भाषा
भू पर इसे विचरने दो हे !

कब तक बिजली चमकाओगे
अब तो मेघ बरसने दो हे !

× × × ×

निरख घोर घन, मुग्ध मोर-मन
जल – हिलोर में नाचे !

पर पसार गंगा – कछार पर
सावन – पवन – अनन्त ज्वार पर

सजल प्रफुल्ल कदम्ब – डाल के
मधुर शोर में नाचे !

सरस दिवस पावस का श्यामल
चंचल विद्युत, बादल केवल

गान भरे गर्जन में जीवन
सघन भोर में नाचे !

अवनी पर आकाश गा रहा
विरह, मिलन के पास आ रहा

चारों ओर विभोर प्राण—
झकझोर घोर में नाचे !

निरख घोर घन, मुग्ध मोर-मन
जल – हिलोर में नाचे !

× × × ×

यह सावन की सान्ध्य यामिनी
फूलों की सुन्दरता जागो !

नील क्षितिज पर चाँद खड़ा है
अलग – बगल में घन बिखरा है

निखर रही रसभरी माधुरी
सुरभित स्वप्न – अमरता जागो !

गीति – घटा सहसा लहराई
दूर किसी ने वेणु बजाई

खुलीं जुही की उजली आँखें
पाँखों की निर्मलता जागो !

भींग रही है मही फुही से
लिपट रही चाँदनी जुही से

मुग्ध प्राण रजनीगंधा से
मृदु कामिनी – विकलता जागो !

यह सावन की सान्ध्य यामिनी
फूलों की सुन्दरता जागो !

× × × ×

नील गगन के विस्तृत मन पर
गीत भरी भाषा उमड़ी !

अलसित धरा–दृगी मुसकाई
जब पावस ने बीन बजाई

वन–वन विपिन–विपिन पर श्यामल
प्रीत भरी आशा उमड़ी !

सौ–सौ सुधि आ रही तुम्हारी
खिली हृदय की क्यारी-क्यारी

प्रिय बादल के अन्धकार में
आकुल अभिलाषा उमड़ी !

मधुर याद के इन झोंकों पर
फूट रहा नयनों से निर्झर

अश्रु–फूल की सजल धूल में
सुख की परिभाषा उमड़ी !

नील गगन के विस्तृत मन पर
गीत भरी भाषा उमड़ी !

× × × ×

युग–युग से बरसे बादल ये
बुझी न प्यास कभी जीवन की !

हुई न दूर जलन की पीड़ा
होती रही घटा की क्रीड़ा

मेघ – छाँह में रही चेतना
गई न प्यास कभी भी मन की !

इस अतृप्ति को तृप्त करो हे
घन – वियोग – वन में विचरो हे

साँस – साँस में अनल तुम्हारा
मिटी न प्यास कभी ईंधन की !

मृत्यु अकेली सुधा पिलाती
स्निग्ध शान्त संगीत सुनाती

किन्तु जनम जीवन ले आता
बढ़ती जिज्ञासा यौवन की !

युग–युग से बरसे बादल ये
बुझी न प्यास कभी जीवन की !

सप्तम सर्ग

सुन्दरता की शय्या पर सोने वाला भी
संयम से योगी बन जाता है जीवन में
दुर्बलता भी जल जाती है तप के बल से
चेतना जिस समय आती मानव के मन में!
जल जाती है वासना साधना-ज्वाला से
मिट्टी भी कंचन बन जाती अंगारों में
साधक के प्राणों में जितनी है शक्ति छिपी
वह नहीं मिलो योद्धाओं की तलवारों में!
कोशा के उर पर सोनेवाला स्थूलभद्र
आनन्द लूटने वाला वह बेसुध भोगी
बारह वर्षों की कठिन तपस्या में जल कर
हो गया स्वयं ज्योतिर्पथ का उज्ज्वल योगी!
परिवर्त्तन का झोंका आया चुपचाप एक
कोशा की ममता का प्रदीप बुझ गया स्वयं
जल गया एक दूसरा दीप अन्तर-तर में
रोशनी दिखाई पड़ी जिन्दगी की सच्ची!

तन की तृष्णा मिट गई साधना के सुख से
आत्मा की भूख लगी केवल इस जीवन में
नयनों की प्यास मिटी प्रकाश के पानी से
लग गई आग कामातुर यौवन के वन में!
वासना जल गई स्थूलभद्र के जीवन से
मुट्ठी भर राख मिला मन की अभिलाषा को
चिनगारी जो उड़ गई आग की लपटों से
वह मिली नर्त्तकी कोशा की उर-आशा को!
दो जीवन की इतनी ही तो परिभाषा है
नारी को नयनों के आँसू का हार मिला
पर पुरुष मोह की मदिरा से जब ऊब गया
उसको तप के बल से ही ज्ञानागार मिला!
नारी को कला मिली नयनों के पानी में
जिसमें चरित्र की परछाईं हिलती-डुलती
उस परछाईं का जीवन केवल स्थूलभद्र
जिसको कोशा बारह वर्षों से देख रही!
वह छाया ही है कला आजकल कोशा की
जिसको छूकर जीवित है जीवन के गृह में
कामना-साधना के संगम पर उड़ता जो उज्ज्वल मराल
उसकी परछाईं नयनों की नदियों में कोशा देख रही!
कोशा इसलिए कला-देवी
औ' स्थूलभद्र साधना-देवता का योगी
जो केवल एक मनुष्य-रूप!
पावस के बादल घिरे नहीं हैं अम्बर में
शिष्यों के दल में बैठे हैं संभूतिविजय
जो परम सिद्ध योगी हैं श्रमण-कठिन पथ के

जिनकी दीक्षा से स्थूलभद्र के नयन खुले!
वर्षा के चार महीने तक योगी रहते हैं एक जगह
करते हैं तप्त तपस्या जाकर कहीं-कहीं।
आज्ञा-आदेश-सभा है जैनी भिक्षुक की
सबकी अभिलाषा सुनते हैं संभूतिविजय—आचार्य प्रवर!
कोई कहता है—सिंह-गुफा के गर्जित द्वार-समक्ष बैठ
उपवास करूँगा ध्यानमग्न वर्षा ऋतु में!
कोई कहता—हे प्रभू! जहाँ अजगर रहता
उस पर्वत के ही आस-पास साधना करूँगा वर्षा में!
कोई कहता—मैं नीर-हीन कूएँ के मध्य खम्भ पर रह
अर्चना करूँगा कठिन तपस्या के मन से!
सबसे छोटा प्रिय स्थूलभद्र रह गया शेष
संभूतिविजय ने एक बार देखा उसको
जो प्रबल योग में लीन एक मानव ही है
मानव-दर्शन के दिव्य ज्ञान का ज्ञाता भी!
वह कहता है—हे मुनि महान! मैं जाऊँगा पाटलीपुत्र
औ' वहीं नर्त्तकी कोशा के संगीत-नृत्य के ही गृह में
व्रत का उद्यापन कर वापस आ जाऊँगा!
संभूतिविजय निःशब्द-स्तब्ध!
गंभीर, शान्त पर अति प्रसन्न!
पर सकल शिष्य व्यंग्योक्तिपूर्ण—
वेश्या के गृह में योगी की साधना?
प्रीत-संगीत-नृत्य की मोहकता में व्रत कठोर?
कोशा का प्रेमी स्थूलभद्र अब भी वैसा का ही वैसा
बारह वर्षों तक योगी रह कर भी भोगी!
आखिर मंत्री का पुत्र विलासी होगा ही

वासना भरी आँखों से कोशा ही निकली
आश्चर्य! घोर आश्चर्य! भद्र!
तुमने गुरु के गर्वित मस्तक को झुका दिया
वेश्या का भूखा, जाओ वेश्या के गृह में
लेकिन फिर कभी नहीं आना गुरु के समक्ष
लज्जा भी नहीं हुई कहते हे अधम तुम्हें!
ये सबके मन के प्रश्न रहे मन में केवल
मुखमण्डल के कुछ भाव स्थूल ने देख लिए
पर कुछ भी नहीं प्रभाव पड़ा मन-प्राणों पर
पाषाण तपस्या का उतना ही चमक रहा
जिसको हर्षित मुनिराज देखते हैं केवल!
आदेश मिला सबको निज पथ पर जाने का
सबने प्रस्थान किया झुक कर गुरु के समीप
गुरु ने देखा सबको जाते
सब जाते हैं मन्थर गति से पर स्थूलभद्र?
क्षण में ही ओझल हुआ, जा रहा दूर-दूर
उस अमराई से भी सुदूर!
देखते बन्धुगण मुड़-मुड़ कर
गणिका के घर पर जाने में कितनी तेजी!
रह-रह कर हँसी निकलती है सबके मुख से!

× × ×

पाटलीपुत्र के राज-पंथ से चला जा रहा है कोई
सूरज चलता ऊपर लेकिन उसकी किरणें भूपर चलतीं!
भीषण गर्मी
है रुकी वायु
धूमिल अम्बर से लिपट रही आकुल आँधी

खुल रहे केश के अन्धकार
उस पार मेघ कुछ उमड़ रहे
जिन पर रवि की ज्वालाएँ करती हैं क्रीड़ा
जब स्तब्ध साँस रुक-रुक कर चलने लगती है!
उठती आँधी की छाया में
कोशा के कला-भवन के सम्मुख कौन खड़ा
चुपचाप देखता बन्द द्वार
परिचित नयनों से बार-बार!
वर्षा का पहला मेघ अचानक गरज उठा
वर्षा की पहली घटा घिर गई एक ओर
फूटा असाढ़ का अमृत-कलश
उस पार बरसने लगा मेघ
इस पार गिरे दो-चार बून्द!
चातकी लगी उड़ने रसाल की एक झुकी-सी डाली पर
खुल गए कलापी के मृदु सतरंगी सुपंख
लहलहा उठा लतिकाओं का साम्राज्य सघन
शीतलता के सपने का फैला अन्धकार
खुल गया नर्त्तकी का चित्रित वह एक द्वार!
चौंकती बिजलियाँ कड़क उठीं घन के वन में
कोमल अनामिका से कोशा ने हिला दिए दो-तीन तार!
पहचानी वीणा की बोली आई बाहर
निकली दासी गृह से चुपके
देखा—भिक्षुक है खड़ा एक
उन्नत ललाट-सौन्दर्य दीप्ततर दीपक-सा
अधरों से बाहर आ न रही मुस्कान मधुर
गम्भीर सिन्धु के एक तीर पर—

खड़ा मनुज का शान्त रूप!
दासी भीतर ही लौट गई यह देख तुरत
कोशा के सँग वह फिर आई उस जगह शीघ्र।
नर्त्तकी नहीं पहचान सकी उस योगी को
पर दृष्टि विचरने लगी व्यक्ति की शोभा पर
जिस पर संयम की आभा गुंजन करती थी!
"कोशा! तुम मुझको भूल गई--बोला योगी--
"मैं हूँ.....!
चौकती हुई कोशा बोली--"तुम स्थूलभद्र?
स्वर तो कुछ वैसा ही है.....पर यह रूप....रंग!"
"हाँ रूप-रंग तो बदल गया!"--योगी ने उत्तर दिया तुरत
गिर पड़ी नर्त्तकी चरणों पर प्रिय को पाकर
नयनों में सावन-घटा उमड़ कर बरस गई
अन्तर की सूखी लता लहलहा उठी पुनः
वह भिक्षु विशाल हिमालय-सा ही खड़ा रहा
पोछ्ती अश्रु को आँचल से बोली कोशा--
"तो चलो नाथ! अपने घर में
बारह वर्षों की रिक्त प्यास अकुलाती है
निर्मोही! अपने सपने में संगीत भरो!"
"आज्ञा दो कोशा! वर्षा ऋतु तक रहने की
भिक्षुक आया है यहाँ तपस्या ही करने"
"आज्ञा किसकी? कोशा अपने पति को कैसे आज्ञा देगी?
तुम तप करने आए हो इस मोहकता में? आश्चर्य!"
"आज्ञा कोशा!"
"अच्छा मैं आज्ञा देती हूँ"--धीरे से कोशा बोल उठी
पर चीख उठी वह एक बार--

"तुम मेरा सब कुछ लेकर चले गए स्वामी
देने आए हो आज युगों के बाद भिक्षु का प्रखर रूप ?
हे पुरुष कठोर ! जलाने आए हो तुम अपनी नारी को ?"
"मैं देने नहीं यहाँ आया हूँ प्रिय कोशा !
तप का अन्तिम बल संचय करने आया हूँ
पहले भी आया था कुछ लेने को तुम से
अब भी आया हूँ लेने ही कुछ इस घर से !"
कोशा कुछ समझ सकी, कुछ नहीं समझ पाई फिर भी
संतोष हुआ मन-प्राणों को इस वाणी से
वह प्रिय के संग चली अपने अन्तःपुर में
गूंजे वीणा के तार-तार उस रजनी में
बारह वर्षों के बाद कोकिला कूक उठी मीठे स्वर से
गंगा के तट तक फैल गई झंकार एक !
बीती विभावरी की शोभा
भैरवी उठी स्वर-शय्या से
लय के अलसित दो नयनों में ऊषा की आभा उतर पड़ी
निद्रित भैरव सो गया बीन के आसपास
गीतों की गगरी लिए भैरवी आई अन्तर-पनघट पर
प्राणों का रस छलका प्रभात के आँगन में
बह उठा प्रेम का मलयानिल
अभिव्यक्ति-किरण फैली जीवन-नभ से मन पर
लहलहा उठा उर-लता-कुंज मधुवन-उपवन
खिल उठे भावना-फूल अश्रु-शबनम-सिंचित !
यह है असाढ़ द्वितीय दिवस,
चंचल कज्जल उज्ज्वल अति मेघाच्छन्न गगन
श्यामल कम्बल पर स्थूलभद्र है ध्यान मग्न

ज्योतिर्मय कमल-नयन-कोमलदल अर्द्ध खुले
मन-प्राण-चेतना ब्रह्म-ज्ञान-गिरि पर सुव्याप्त !
सम्मुख कोशा देखती खड़ी
उड़ रही व्यंग्य की बनी हुई उजली, पीली, नीली तितली
उर्मिल रेशमी सुकेश-कुंज उन्नत वक्षस्थल पर शोभित
सद्यःस्नाता रमणी सुगन्ध-सुरभिता स्वच्छ
आकर्षण-ज्योत्स्ना-वर्षण से उज्ज्वल यौवन
मृग-दृगी दौड़ती योग-शिखर-साधन-वन में
स्थिरता का अक्षय वट तंद्रा में लीन-लीन
सौन्दर्य-पवन-झोंके आते-जाते लेकिन
अश्वत्थ सत्य-अर्चनाधीन !
कोशा स्वरूप-रस-कलश वहाँ पर रख देती
नारीत्व-निकेतन के खुल जाते मुक्त द्वार
पर स्थूलभद्र उस पार
मोहिनी सुन्दरता से बहुत दूर
नर्त्तकी फेंक सकती न जहाँ झंकार-फूल
छवि की बाँसुरी-पुकार न प्यार जगा सकती !
वह आई योगी के समक्ष भोजन लेकर
बैठी अनंगिनी-सी सनम्र, लज्जित, सगर्व
मुस्कान-सुधा-सिंचित शशिमुखी सहर्षोत्सुक
कहती प्रिय से—"खोलो दृग-दल
तोड़ो तंद्रा
हे मुनिमहान के भी महान के महा·····!
कोशा के अधरों के प्यासे मुनिराज उठो
मैं निज कर से ही तुम्हें खिलाने आई हूँ
बारह वर्षों से भूखे हो मेरे योगी !"

इस तरह व्यंग्य-वाणी की निर्भय लहर उठी
कोशा के मन का क्रोध खिलखिला उठा स्वयं
पर स्थूलभद्र जागा स्वाभाविकता - विमुक्त कर्मोदय में!
लख कर विशिष्टता भोजन में वह विहँस उठा--
"यह तो मेरे हित निर्मित है, तुम क्षमा करो
मैं वही ग्रहण कर पाऊँगा जो बचे शेष
भिक्षा से ही तो श्रमण उदर भरते अपना!"
कोशा अवाक-सी रही
उदासी की वेदना मिली मन से
भींगे लोचन से देख संयमी स्वामी को
वह बोल उठी आकुल अधीरता के स्वर से--
"तुम भीख माँग कर खाओगे हे प्राणनाथ?
किसने यह तुम्हें सिखाया है?
यह कैसा परिवर्त्तन है स्वप्निल जीवन में?
यदि यही तुम्हें करना था तो तुम क्यों आए?
बारह वर्षों तक रोती रही विरह-वन में
मैं कुछ दिन इसी तरह रोती, फिर मर जाती!
नारी को नहीं रुलाओ हे मेरे वल्लभ,
तुम नारी के आँसू का मत अपमान करो
तुम एक बार कोशा के नयनों को देखो
देखो अतीत की ओर जहाँ पर तुम मेरी
आँखों को मूंद रहे हो दोनों हाथों से,
सुरभित वेणी पर अपनी ठुड्डी को रख कर
कहते निज परिवर्त्तित स्वर से--मैं कौन देवि!
तब मैं तीनों मुद्रिका तुम्हारी छू लेती चुपके-चुपके
औ' कह देती--"तुम एक कबूतर हो केवल!

फिर क्या होता ? हम दोनों हँस पड़ते खिलकर
तुम पुष्प-गुच्छ मेरे मृदु कर में रख देते !
तुम भूल गए सारे सपने ?
कोशा न भूल पाती कुछ भी
चुम्बित इंगित सुरभित संस्मरण छुपाए हूँ !"
"बस करो नर्त्तकी ! रहने दो बीती बातें
उन सपनों के श्यामल पृष्ठों को मत खोलो
अब तो प्रकाश के पथ से मैं आता-जाता
नयनों में दुर्बल निद्रा कभी न आएगी
जागरण-किरण की ज्योति विचरती सभी ओर !
"तुम शास्त्रों की पंडिता, कला की प्रतिमा हो
जीवन की निर्मलता से कला निकलती है
मेरे संयम को छवि-सुगंध से मत छूओ
केवल नयनों से नहीं निकालो गीत-प्रीत
संगीत—स्वर्ण संगीत, आत्म से आता है
औ प्रेम ?
सत्य के प्राणों की उन्मुक्त प्रतिध्वनि ही तो है
जिसमें चरित्र की अमर रागिनी उठती है
योगी भी सुनता है जिसकी स्वर लहरी को
तन्मयता की शीतलता जहाँ विचरती है
अति स्निग्ध शान्ति की रश्मि सृष्टि को सजती है !"
दो-तीन दिनों के बाद
रात में वृष्टि हो रही सभी ओर
कामना-कली खिल रही साँस के झोंके से
चंचलता की प्रत्येक पंखड़ी हिलती है
वर्षाकुल कोशा हर्षाकुल हो रही स्वयं

यह सोच कि योगी की आँखों को मैंने हँसते देखा है!
मैं मध्य निशा में जाऊँगी प्रिय के समक्ष
सब कुछ लेकर
कुछ भी न रहेगा शेष
आज सम्पूर्ण तपस्या-नील व्योम-केन्द्रस्थल में
सौन्दर्य-कला-पूर्णिमा सुधा से मत्त करेगी यौवन को
आवरण-हीन चाँदनी पिएगी मधु मदिरा
वासना-नृत्य से उर-प्रदेश मुखरित होगा
आकर्षण की झंकार प्राण को बाँधेगी
अधरों पर मेरी सुन्दरता सो जाएगी
प्रत्येक साँस में मदिर सुरभि रख दूँगी मैं!
दासी! दासी! तू बजा बीन
सब साज बजा कोई न वाद्य रह जाय शेष
मैं जाऊँगी प्रिय के समक्ष सब कुछ लेकर
जा सौ दीपों को जला सुप्त योगी-गृह म
वह सोया है,
देखना कहीं जागे न नूपुरों क स्वर स
दीपिकावली सज दे सुकक्ष में सभी ओर
आकर्षक चित्रों को भी वहाँ विहँसने दे
फूलों का भी संसार बसा दे इधर-उधर
उड़ने दे मोहक मधुर गन्ध की शुभ्र धूप!
दासी! अब देर न कर, प्रबन्ध कर दे जल्दी
शृंगार-प्रसाधन-गृह में अब मैं जाती हूँ
मेरे आने के पूर्व
वहाँ सर्वत्र शीघ्र मादक सुगन्धि-साम्राज्य बिछा देना चुपके
छूना वाद्यों को भी मेरे आने पर ही!

यौवन गति से हो रही वृष्टि झर-झर-झर-झर
श्यामल असाढ़-पंचमी-कृष्ण-रजनी प्रफुल्ल
बजती सुदूर बाँसुरी एक धीरे-धीरे
वह तान हवा की पाँखों पर उड़ कर आती
शृंगार-सदन में कोशा भी सुन लेती है
अति मन्द मन्द उठती विहाग की ध्वनि प्रसन्न
कोशा कहती—कोई पागल करता प्रलाप
है बहुत देर निद्रित विहाग के आने में
फिर भी उसका संगीत मूक प्राणों को छूने वाला है
ओ कलाकार अज्ञात! तुम्हें है धन्यवाद
तुमने मेरे मन को भी सहसा मुग्ध किया
लो एक जुही की कली तुम्हें अर्पित करती!
यह मध्य यामिनी की वेला रिमझिम-रिमझिम
सुन्दरता की आँधी उठ रही कला-गृह में
झकझोर रहा है नृत्य साधना के मन को
संगीत-हिलोरें उठती हैं मन के वन में
प्राणों का वृक्ष सिहर जाता है झोंकों से
पर आत्म-शक्ति
शुद्धाति शुद्ध
स्थिर
अचल
अचंचल
स्तब्ध मौन!!
केवल अधरों पर एक मन्द मुस्कान-ज्योति
जो जला रही वासना-कुंज को धीरे-धीरे-धीरे!
नर्त्तकी रूप के इन्द्रजाल को बिछा रही है बार-बार

फेंकती मदन के सुमन तपस्या के तन पर
पर जल जाती सारी पंखुड़ियों की शोभा
उठती अनन्त झंकार तार से निकल-निकल
बहते मृदंग के चरण-चरण गति गीतों पर
बाँधती वेणु की रश्मि ज्ञान-गिरि को लेकिन
सुविशाल सुविस्तृत वक्ष न बँध पाता स्वर से!
ढल रही निशा की चंचलता अलसित, निद्रित
गिर पड़ी नर्त्तकी स्थूलभद्र के चरणों पर मूर्च्छित होकर
औ' टूट गए वीणा के झंकृत तीन तार!
रख दिया हाथ योगी ने कोशा के सिर पर
निकला मुख से इतना ही केवल—धर्म लाभ!
उस समय उषा की एक किरण आई गृह में
जल गई वासना की केवल दोनों पाँखें
झाँकने लगा रवि प्राची के वातायन से
कोशा चरणों पर गिरी रही अपने प्रिय के
उर में प्रकाश की पतली निर्झरिणी बहती
वह चुपके-चुपके यह कहती—
"देखा तुमने साधना-सत्य?
देखी चरित्र की निर्मलता
जिसके सम्मुख हो गई वासना ही परास्त
झुक गई कला की सभी डाल
छू सकी न छवि की रश्मि गगन-विस्तृत मन को!
तुम प्रिय चरित्र-पथ पर ही चलो कला लेकर
चाँदनी कला की फैलेगी शीतल सुस्निग्ध
संयम का चन्द्र मिलेगा चारित्रिक रवि से
चलना होगा नर्त्तकी तुम्हें स्वर्णिम पथ पर

माँगती कला आचरण, तुम्हें देनी होगी
अन्यथा तुम्हारी मृत्यु कला के साथ-साथ !
तुम मरो किन्तु मारो न कला की विहगी को
पर कला तभी होगी पवित्र जब जागोगी—
जब अन्धकार से बचा सकोगी आत्मा को !"
कोशा प्रिय-चरणों पर अब भी है झुकी हुई
निर्मल प्रकाश-सरि के तट पर है रुकी हुई
औ' स्थूलभद्र ?
नारी के प्राणोत्सर्ग-पर्व में ज्ञान-दीपिका जला रहा
नर्त्तकी देखती है प्रकाश का एक फूल
जिस पर आत्मा का अलि विशुभ्र गुंजित-मुखरित !
उपवास किया कोशा ने आज समस्त दिवस
प्रिय के इंगित पर संध्या में फल भी खाया
रजनी में योगी ने उन्नत उपदेश दिया
पाटलीपुत्र में मिथिला के विदेह आए चर्चाओं में
सीता भी आई वाल्मीकि के संग-संग
गोपा प्रिय से मिल कर तपस्विनी बनी यहाँ
नर्त्तकी अम्बपाली हो गई विशुद्ध बौद्ध
आए आलोक लिए स्वर में भगवान वीर—
गंभीर श्रमण के अग्रदूत–निर्वाण-लक्ष्य !
कोशा नयनों में नीर लिए देखती रही उपदेश-चित्र !
वर्षा समाप्त हो रही,
शरद के उड़ते हैं उजले बादल
पाटलीपुत्र की गंगा में तिर रही गगन की परछाईं
लहलहा रहे हैं शुभ्र काश के कथा-कुसुम
छू रहा चाँद जिनको ज्योत्स्ना के प्राणों से

बक-पंक्ति उतरती है तट पर धीरे-धीरे
उड़ती पाँखों के चित्र नदी में खिंच जाते
खंजन की चंचलता उड़ती फिरती वन में!
कोशा के शुभ्र सरोवर में खिल उठे कमल के कोमल दल
पुरइन के पत्तों पर लाखों मोती बिखरे
जल के दर्पण में देख रहे अपने सपने को हरसिंगार
चम्पई और उजले फूलों के शब्द बिछे हैं सभी ओर
उज्ज्वल कुहेलिका वेला में चुनती जिनको धीरे-धीरे
कोशा की नम्रालस दासी, सीकी की सुन्दर डाली में!
वह पहनाती जो हार प्रात की छाया में
रोती-रोती
कोमल कर जिसके कम्पित हैं
निर्मल ममता का शुभ्राञ्चल भींगा है जिसका, आँसू से
वह कोशा है
पाटलीपुत्र की गणिका है
योगी की विनया वनिता है
हो गई तपस्या पूर्ण वासना के वन में
वह स्थूलभद्र जा रहा आज
उस ओर जहाँ से आया था
लेकर नवीन आलोक एक कोशा-गृह से।
नर्त्तकी देखती उसे प्राण के नयनों से
छाया रह गई यहीं,
लेकिन आलोक-रूप जा रहा दूर!

अष्टम सर्ग

संभूतिविजय मुनि के समक्ष सब शिष्य लौट आए लेकिन
आया न अभी तक स्थूलभद्र कोशा-गृह से
शिष्यों के मनमें शंकाकुल कौए के कर्कश काँव-काँव—
रव गूंज उठे राजगृह वन के आसपास
गर्वान्ध कूप के पानी में उच्छृंखलता के मेढकगण
वर्षा ऋतु के जाने पर भी टरटरा उठे
लेकिन वह हंस चला आया उड़ता-उड़ता
कौए छिपने लग गए बाँस के झुरमुट में
फिर भी उड़-उड़ कर,
उछल-कूद कर काँव-काँव करते रह-रह
मिथ्यालोचन तम के पर्दे से होता है
अथवा लुक-छुप कर तीर चलाए जाते हैं
लेकिन कलंक लगता न कभी उज्ज्वलता में
पीता मराल सर्वदा क्षीर, वह नीर नहीं
पर कौए को संतोष कहाँ!
वे सब कुछ खाते-पीते हैं सब जगह जहाँ कुछ मिल जाता

उड़ता है उनका ध्यान धूर्त्तता के बल पर
इसलिए कालिमा ही करते हैं वे पसन्द
उजली रातों में उड़ कर भी कुछ करते हैं तम की बातें
"कोशा की चंचल आँखों से बच कर जाना है खेल नहीं
युग की प्रसिद्ध नर्त्तकी किसे बाँधती नहीं झंकारों में
बँध गया उसीके प्रेम-पाश में स्थूलभद्र फिर एक बार
अब आ न सकेगा वह अपने गुरु के समीप
हो गया भंग बारह वर्षों का उसका तप!"—
संभूतिविजय के शिष्यों में केवल इतनी तो चर्चा।
पाटलीपुत्र का योगिराज आ गया तपस्या से वापस
गुरु के चरणों पर झुक कर किया प्रणाम तुरत
मुखमण्डल पर देदीप्यमान आलोक-सत्य हो रहा ध्वनित
संभूतिविजय ने एक दृष्टि में ढूंढ लिया तम का संयम
अन्तर-सौन्दर्य निकलता है उस स्थूलभद्र के तन-मन से!
शिष्यों के प्राणों पर ईर्ष्या की आग जल उठी एक बार
धूएँ के बादल को देखा संभूतिविजय ने भी उड़ते
जिसके तम-गृह में भी सुदिव्य व्यक्तित्व चमकता योगी का
तप का दिनमान प्रखर किरणों के साथ साधना-नभ में था!
संभूतिविजय से स्थूलभद्र को नित नवीन ज्योतियाँ मिलीं
वह शक्ति मिली जिससे आत्मा की रश्मि निकलने लगी स्वयं
वह ज्ञान मिला जिसने जीवन को उठा लिया भू से ऊपर!
फिर एक वर्ष के बाद
शिष्य पावस में तप करने निकले
ईर्ष्यान्ध एक विक्षुब्ध शिष्य ने कहा श्रमण गुरु के समक्ष
"मैं जाऊँगा कोशा के गृह में तप करने हे मुनि महान!
हो मुझे वहाँ ही जाने को आज्ञा-प्रदान।"

लेकिन गुरु ने कह दिया उसे—
"यह कठिन तपस्या है जीवन में हे भिक्षुक,
वेश्या के गृह में तप करना है खेल नहीं
वासना-वृक्ष की छाया में तप करना दुस्तर कार्य यहाँ
उसमें भी कोशा के गृह में !
यह स्थूलभद्र ही कर सकता था जीवन में
कोशा केवल नर्त्तकी नहीं, सुन्दरता की यामिनी स्वयं
जिसकी ज्योत्स्ना में कला-मल्लिका खिलती है !"
गर्वित भिक्षुक ने हठ करके आज्ञा ले ली
हर्षाकुल चरण अग्रसर हुए विकल पथ पर
कोशा से अनुमति मिली वहाँ पर रहने की।
दो-चार दिवस कट गए कला-गृह के भीतर
भिक्षुक (रौद्रक) ने सोचा,
"यहाँ तपस्या करना कितना सहज, सरल !,,
इतने में वीणा बजी
एक झंकार निकलने लगी मुग्ध
कोशा ने एक अलाप लिया धीरे-धीरे
गीतों के बादल उड़े प्राण के अम्बर में
साँसों की हवा चली चंचल यौवन-वन से
झोकों से हिलने लगी डाल उन्मत्त मत्त
कल्पना—चाँदनी नयनों में आकर बोली—
"योगी ! तुम आए हो गृह में कितने प्यासे
तुमने विरक्ति की तप्त भूमि ही देखी है
सुन्दरता का आनन्द यहाँ पर मिलता है !
पी लो मदिरा की एक घूंट—बस एक घूंट।
देखो कैसा लगता है इसका मधुर स्वाद

कितनी लहरें उठती हैं सुधि की सरिता में
बस एक घूंट पी लो यौवन के प्रिय योगी,
जीवन भर भूल सकोगे नहीं सुधा-रस को
फिर अवसर नहीं मिलेगा कोशा के गृह में
कोशा को पाना इतना है आसान नहीं
यह भारत की नर्त्तकी श्रेष्ठ सुन्दरतम है
जिसके सुवक्ष पर स्थूलभद्र भी सोता था!
कोशा वेश्या ही नहीं, कला की प्रतिमा है
युग की सुन्दरता की अमृतमय सरिता के
दुर्लभ पानी से प्यास मिटा लो ओ योगी!
सुनसान निशा में यहाँ कौन क्या देखेगा
संभूतिविजय रहते सुदूर, अति दूर-दूर
यह पाप नहीं, आनन्द एक है जीवन का
वर्षा के चंचल फूल बरसते हैं कब से
बिजली के दीप घटा-नर्त्तकी जलाती है
आती हिलोर, आते झकोर
झकझोर झोर, सब ओर शोर
केवल रे केवल अन्धकार
कोशा के शयन-कक्ष में भी
यदि एक दीप बुझ जाय,
वहाँ भी हो जाए नैशान्धकार!
कोशा निष्ठुर है नहीं
नहीं संयमशीला नारी कर्कश
वह तो उदारतम वेश्या है!
अत्यन्त पिपासित प्रिय योगी
उन्मत्त तरुण,

वह जाएगी अब सोने को
पलकों पर निद्रा उतर रही
तुम भी जाओ
धीरे-धीरे
निस्तब्ध प्रकृति की नीरवता में—
खोल द्वार
चुपके-चुपके
इस मध्य निशा की बेला में
आओ योगी !
सम्पूर्ण सृष्टि है सुप्त, मौन
एकान्त, शान्त, विश्रान्त विश्व
केवल पावस की ध्वनि अनन्त
है दिगदिगन्त चुपचाप·····आज
कितनी प्रसन्न यह एक रात !
प्राणाकुल अधर चाहता कुछ
बस एक घूंट
मोहक मदिरा-सौन्दर्य-स्नात
सुरभित चुम्बन की एक नींद
जिसमें मीठे सपने प्रिय के
प्राणोत्सव के कम्पन प्रफुल्ल
कुछ नहीं और
बस यही एक उपहार प्यार
झंकार एक मन-प्राणों की
इतनी ही केवल भूख
यही है प्यास
बुझालो ओ योगी—

कोशा-गृह के उत्सुक भिक्षुक
ओअतिथि मौन
ओअतिथि मौन
ऐसा स्वर्णिम सुख कौन
स्वर्ग में भी दुर्लभ !
तुम सोए हो भू पर ?
ऊपर कुछ उठो यहाँ योगी
है प्रथम भोग
तब योग
और तब मुक्ति !
श्रमण ! तुम तो यौवन-वन के वसन्त
ऐसी विरक्ति किसलिए अभी ?
सौन्दर्य-पान तो पाप नहीं
आनन्द पुण्य का हृदय-कुंज
मत दो, मत दो यौवन को जीर्ण बुद्धि
रस की भाषा, परिभाषा दो
स्वप्नोपभोग की शोभा दो
उल्लास-हास
वैभव–विलास की आशा दो, अभिलाषा दो
वासना प्रथम,
साधना योग पश्चात् !
शेष जीवन कितना
मानव-यात्रा कितनी लम्बी
करना भविष्य में जो चाहो
पर वर्त्तमान में हे मनुष्य गुंजार करो
यौवन है मिला तुम्हें कि स्वप्न में प्यार करो !

अज्ञान-ज्ञान से झुलस रहा है यह जीवन
तुम छले जा रहे हो प्रेमाकुल यौवन में
यह मध्य निशा,
है स्तब्ध दिशा,
कोशा सोई है शय्या पर
सपने में केवल स्थूलभद्र योगासन पर—
दे रहा कठिन उपदेश शेष अन्तरतर में !
जलता प्रदीप अति मन्द-मन्द
स्वच्छन्द समीरण के झोंके आते-जाते
पर दीप-शिखा कम्पन-विहीन, आलोक पूर्ण !
खुल गया द्वार,
धीरे-धीरे
आया योगी कोशा-गृह में
कम्पित हैं पग
कम्पित हैं दोनों कर थर-थर
तन काँप रहा है प्रणय-वृन्त के हिलने से
कामना-वायु बह रही सुरभि-तृष्णा के सँग
रौद्रक ने देखा प्रथम बार उस कोशा को
जिस पर सुनग्नता की शीतल चाँदनी बिछी
है अस्त-व्यस्त आवरण दिव्य
कामातुर आँखें देख रहीं छवि की शोभा
नारी इतनी सुन्दरी ?
नर्त्तकी इन्द्रपुरी से आई है
प्रत्येक अंग से लिपटा है बेसुध अनंग
कोशा आकर्षण—अलका की मणि से निर्मित
सुन्दरता ही साकार स्वयं !

तू भाग्यहीन है स्थूलभद्र
कैसे तूने तज दिया इसे
कोई भी तपसी पाकर गर्वित ही होगा
साक्षात स्वर्ग की यह देवी
तू धन्य, पाटलीपुत्र धन्य !
इतने में
कोशा ने करवट बदली सहसा
कंचुकी वक्ष से तनिक खिसक आई नीचे
यह निरख रौद्र की दृष्टि काँपने लगी स्वयं
उष्णता निकलने लगी साँस की लहरों से
धक–धक करने लग गया वक्ष उसका उन्नत
काँपने लगी दुर्बलता की पतली डाली
हो गए खड़े प्रेमान्ध वदन के रोम–रोम
कामाग्नि निकलने लगी प्राण–परिवर्त्तन से !
योगी प्रदीप को गया बुझाने चुपके से
कोशा की निद्रा चौंक उठी
वह जाग गई !
मीचने लगीं आँखें अपनी दोनों कर से
देखा उसने—
कम्पित भिक्षुक
विह्वल, अवाक
थर-थर केवल !
बोली वह—
"योगी ! यहाँ आप ?
क्यों ? यहाँ किसलिए ? . . . ."
वह मौन रहा केवल क्षण भर

लेकिन वह समझ गई सब कुछ
वासना-ग्रंथि के पृष्ठ उलटने लगे स्वयं
रौद्रक ने कम्पित स्वर से उत्तर दिया उसे—
"लग गई प्यास
इसलिए यहाँ आ गया देवि !"
कोशा शय्या से उतर चुकी थी पहले ही
निज कर से भर कर पात्र एक
योगी को उसने दिया तुरत—
"प्रस्तुत है गंगा का पानी !"
भिक्षुक ने खड़े-खड़े पानी पी लिया और
अपने कम्पित चरणों को बढ़ा लिया क्षण में !
कर लिया बन्द कोशा ने अपना खुला द्वार
निद्रित नयनों में नींद किन्तु आ सकी नहीं
चिन्ता की लहरों में मन की कल्पना घिरी—
"योगी को कैसे मिली वासना की सुगंध ?
क्या समझ रहा वह कोशा केवल गणिका है,
कुछ नहीं और ?
वह क्यों आया मेरे गृह में साधना-हेतु ?
निश्चय वह मेरे प्रियतम का प्रतिद्वन्द्वी है
ईर्ष्या लेकर ही आया है
लेकिन
उसका तप नष्ट हो गया है मन से
कामान्ध पुरुष गिर गया साधना के गिरि से !
इस कला-कुंज का तप उतना है सहज नहीं
वह स्थूलभद्र ही है केवल
जिसने सुन्दरता के फूलों को जला दिया तप-ज्वाला से !

वासना जल गई कोशा की उसके रवि से
संयम का चारित्रिक प्रकाश है स्थूलभद्र।
लेकिन
यह योगी तो सचमुच उलटा निकला
कोशा के शयन-कक्ष-द्वार को खोल दिया
मध्यान्त निशा की नीरवता के सपने में!
पर, मेरा क्या कर्त्तव्य?
वही!
वही जो मैंने पाया है प्रिय से!
कोशा की कला-कुटी में हो साधना भंग
यह कभी नहीं होगा
मैं तप को स्वयं बचाऊँगी मन के तम से!"
दीपिका लिए नर्त्तकी उस जगह पर आई
चेतना-हीन वह भिक्षु जहाँ पर सोया था
जिसकी आँखों में नींद नहीं, सुन्दरता थी
सुन्दरता की चाँदनी रात की कोयल थी
जो कूक रही थी अभिलाषा की डाली पर
जिस पर वसन्त के गुच्छ-गुच्छ थे फूल खिले
मीठी सुगन्ध जिसकी शोभा पर हँसती थी!
रौद्रक उठ कर हो गया खड़ा
कोशा ने कहा उसी क्षण में—
"योगी जाओ नेपाल—हिमालय के गृह में
भिक्षुक यात्री को प्रथम बार
उपहार नृपति देते सप्रेम
अनमोल रत्नकम्बल केवल!
यदि वह लाकर तुम दे सकते हो मुझे भिक्षु!

मैं ... ... पूरी इच्छा आकुल मन की !"
प्रेमाकुल योगी प्रमुदित हुआ इसे सुन कर
प्रस्थान किया उसने प्रभात के पहले ही
तप के अनुशासन के विरुद्ध चुपचाप आज !
आश्चर्य-सिन्धु में डूब गई कोशा क्षण भर—
"योगी के मन में भी इतनी वासना प्रबल ?
वह भी सुन्दरता का इतना आकुल भिक्षुक ?
तप से भी कोशा बड़ी ?
घोर आश्चर्य·····!!
मानव तम के पर्दे में सब कुछ करता है !
लाखों में कोई एक सत्य को पा लेता
कितना है कठिन कर्म ज्ञान की धरती का !
योगी वापस आ गया रत्नकम्बल लेकर
कोशा के स्नानागार-निकट हो गया खड़ा ।
अत्यन्त हर्ष से पागल उसका है तन-मन
अंधा पुरुष की आँखों में केवल कोशा
कोशा के चंचल अंग-अंग
घुँघराले काले केश-कुंज
उन्नत वक्षस्थल की शोभा
अरुणाधर की मुस्कान मधुर
गर्वित कमान-सी दो भृकुटी
मृग-मदन-नयन उत्फुल्ल-फुल्ल
भुज-लता शुभ्र कोमल-कोमल
अरुणिम कपोल
स्वच्छन्द चरण
आवरण-हीन उस प्रथम रात का पूर्ण रूप

सम्पूर्ण चित्र की छाया-ध्वनि
जिसमें खोया सर्वस्व ज्ञान–अस्तित्व स्वयं !
गृह से
हर्षित कोशा निकली,
देखा
योगी सामने खड़ा
लेकर कम्बल की छाया में
कामान्ध कल्पना की तरंग
वासना-तपस्या का कम्बल रौद्रक ने उसे दिया हँसते
कोशा ने पोंछ लिया तन को
ओ, फेंक दिया उसको बाहर !
योगी थर-थर काँपने लगा––
"यह क्यों कोशे ?
दुर्लभ सुवस्त्र का तिरस्कार ?
तूफान पार कर आया हूँ वर्षाऋतु में
है कठिन मार्ग,
फिर भी मैं गया और आया !
पथरीले पथ कंटकाकीर्ण
भीषण अरण्य शत व्याघ्रपूर्ण !
फिर भी यह कैसा तिरस्कार ?"––बोला रौद्रक ।
कोशा ने उत्तर दिया–– पुरुष !
तुम कितने कामी हो योगी,
तुम आए थे मेरे गृह में तप करने को
यह कला-भवन होता पवित्र तप के बल से
लेकिन,
लेकिन तुमने क्या किया हाय,

यह पाप····! यही है पाप भिक्षु !
जीवन भर संयम करने से बनता चरित्र
मिलती अन्तर-सौन्दर्य-ज्योति
होता है आत्मा का विकास
लेकिन,
लेकिन चरित्र को गिरा दिया तुमने योगी !
सुन्दरता ने ही हिला दिया मन-प्राणों को !
सुन लो, सुन लो,
गत वर्ष यहाँ आए थे योगी स्थूलभद्र
उनके तप से मैं परिवर्त्तित हो गई स्वयं
उनके चरित्र ने मेरे मन को खींच लिया
कितने महान योगी हैं वे !
कितने महान !
लेकिन तुमने क्या किया यहाँ,
यह अपनी आत्मा से पूछो
क्या लेकर जाओगे अपने गुरु के समीप !
कोशा के गृह का पाप ?
या कि आलोक-पुण्य ?
रौद्रक काँपने लगा थर-थर
गिर गया नर्त्तकी-चरणों पर——
"तुम क्षमा करो हे महा नारि !
मैंने तुमसे अपराध किया, तुम क्षमा करो !
चेतना-किरण ! मैंने चरित्र को अब जाना
कितना पवित्र यह कला-कुंज, संगीत-नृत्य !
मैं प्रतिद्वन्द्वी होकर ही आया था कोशे,
संभूतिविजय मुनि ने भी मुझको रोका था।"

कोशा ने देखा रौद्रक को फिर रोते भी
चेतना-अश्रु को गिरते भी देखा उसने !
वर्षा समाप्त हो रही
भिक्षु अपने पथ पर जा रहा आज ।
संभूतिविजय ने देखा चरणों पर गिरते
उसको रोते
कह भी कहते— "हे मुनि महान !
कोशा ने मुझको बचा लिया !
नर्त्तकी नही, वह ज्ञान-दीपिका है केवल
जो महाश्रमण को देख रही है संयम से !
कोशा चरित्र-संगीत स्वयं
आध्यात्म नृत्य-गति-आकर्षण
मेरी सुचेतना की जननी
अन्तर-सुदिव्यता की शोभा
उर की पवित्रता-कला स्वर्ण
उज्ज्वल नारी का ज्वलित सत्य
इतनी महान वह वेश्या है !
पाटलीपुत्र की ज्योति अमर है—महा अमर !
कोशा अब वृद्धा है
हो गए सफेद बाल
उसकी सुन्दरता भी हो गई मलीन, किन्तु
ज्योति एक निकल रही वेश्या की आँखों से !
संयम की पाँखों में शक्ति बहुत है छिपी,
कुटिया में रहती है, कला-कुंज में नही
तूलिका चलाती है
गाती है अब भी वह

कभी-कभी नृत्य किया करती है रात में
चाँदनी चहकती है जिस समय सुव्योम में
नपुर की ध्वनि अनन्त छूती है प्राण को !
जीवन का परिवर्त्तन कितना है शक्तिपूर्ण
काल-स्रोत पर मनुष्य बहता ही जाता है
ढल जाता यौवन का सौम्य चन्द्र एक रोज .
सुन्दरता जल जाती साँसों की आग से !
और वासना अनन्त इच्छा की चिता पर
सो जाती मृत्यु की प्रतीक्षा में थक कर ही !
जीर्ण-शीर्ण आकुल तन मन की ही लाठी ले
चलता है इधर-उधर किसी सत्य-खोज में !
सुन्दर थी—कोशा अति सुन्दर थी
वकुल-मुकुल पर विमुग्ध आकुल अलिकुल अनन्त—
अभिलाषा आती थी रूप-सुरा के समक्ष
जहाँ पर अनंग-इन्द्रजाल-ज्वाल उठती थी
आकर्षण की सुगंध अंध जहाँ बहती थी
कामना-तरंग नित्य उठती थी प्राणों से
ज्ञान डूब जाता था उर-समुद्र में समस्त
ज्वार के प्रसार पर सुसुप्त थी सुचेतना
असीम दिगदिगन्त में सुगीतिका सुव्याप्त थी !
कोशा का कला केन्द्र भारत का गौरव था
सुन्दरता हँसती थी पाटलिपुत्रांक में
वासन्ती विभा एक फैली थी यहाँ-वहाँ
ज्योत्स्ना का सुधा-स्वप्न फैला था भूमि पर
वीणा में उठती थी सौ-सौ झंकार नम्र
अति विनम्र प्राणों से कहती थी नर्त्तकी—

"स्वागत हे अतिथि तुम्हें गीत के निकुंज में !"
बिजली-सी हँसी दौड़ जाती थी इधर-उधर ।
किन्तु रूप-विपिन आज
उजड़ गया स्वप्न-सदृश
संयम की सुन्दरता विचर रही कला-संग
कोशा की कुटिया में आते हैं पारखी
जिन्हें शुभ्र केश-कुंज भाते हैं प्राण से !
अक्सर वह गाती है गीत यही एक विह्वल—

मेरे नयन अश्रु से जागे
तुम जागरण सँभालो जीवन !

दुर्बलता की किरणें आकर
फैल गईं नव स्वप्न सजा कर

यह आलोक तुम्हारी शोभा
मेरी ज्योति सजालो जीवन

अब नौका इस पार आ गई
लहरों पर जिन्दगी छा गई

धूप – छाँह दोनों में छवि है
रवि का रूप दिखा दो जीवन !

उर – निकुंज से विहगी बोली
नव विचार ने पाँखें खोलीं

जागृति की यात्रा के तट पर
अब संसार बसा लो जीवन !

प्रथम नीलिमा को पहचानो
तब प्रकाश को जानो, मानो

ममता की सकेत – रश्मि से
चिर आनन्द बसा लो जीवन !
मेरे नयन अश्रु से जागे.....

नवम सर्ग

जीवन की संध्या का सूरज डूबने लगा
पाटलीपुत्र में सघन अँधेरा छाता है
प्राणों का पंछी तन-पिंजर के मन पर बैठा है
कोशा का अन्तिम स्वप्न स्वयं अकुलाता है !
बज रही मृत्यु की मधुर रागिनी दूर, दूर
स्वर का समीर कुछ चुपके से कह जाता है
नर्त्तकी मिलन की ओर दृष्टि फैला देती
मेघों पर ही आलोक बिखरता आता है !
बाँसुरी किसीकी बजती है स्मृति के पथ में
उस पार एक दीपक झिलमिल जल रहा कौन
किसके इंगित से अकुलाते हैं प्राण-प्राण
अनजान अपरिचित धीरे-धीरे कहता है
आओ परदेशिनि ! यहाँ शान्ति की छाया है
थक गया तुम्हारा जीवन अब चलते-चलते
नयनों में नींद भरो अन्तिम अभिलाषा की !
पावस की रात अंधेरी काली-काली है

है चारों ओर घटाओं का सम्राज्य एक
झंझा के झोंके रह-रह कर उठते रहते
उन्मत्त समीरण प्रबल वेग से बहता है
काँपता सघन वन का विस्तृत कोना-कोना
बिजली की भाषा कभी-कभी कुछ कह देती
चौकतीं दिशाएँ अन्धकार की वाणी से
मेघों के गर्जन से वसुधा हिल जाती है !
गंगा का पानी फैल गया है इधर-उधर
चंचल प्रवाह पर लहरों का यौवन बहता
काली परछाई का समुद्र हिलता रहता
भय लगता है पथिकों को पथ पर चलने में !
साधना-कुटी में कोशा कुछ अलसाई है
बुझने के पहले दीप ज्योति से पागल है
साँसों के झोंके टकराते हैं बार-बार
कोई नाविक जीवन-नौका को हिला रहा
उस पार पहुँचने में कोई है देर नहीं
बज रही मृत्यु-बाँसुरी मधुर मृदु मन्द-मन्द !
जीवन-पुस्तक के पृष्ठ खुल रहे सभी आज
दो नयनों में बरसात कर रही है क्रीड़ा
पीड़ाओं की मीठी मुस्कान बही जाती
झरते जाते हैं फूल अश्रु के गालों पर !
माँगती विदाई जीवन की सम्पूर्ण कला
कोशा अपने दो-चार चित्र को देख रही
वह देख रही अपने यौवन की प्रतिमा को
जो चंचलता की लहरों पर इतराती है
वह देख रही अपनी सुन्दरता की शोभा

अनुभव करती है जीवन के परिवर्त्तन का—
"संसार एक है रंगमंच जिस पर जीवन
अभिनय करता है एक नींद के सपने-सा
रह जाती धरती की चीजें इस धरती पर
चलने के समय न मानव कुछ ले जाता है
मिलता है शव को केवल एक कफन उजला
जलने को कुछ लकड़ियाँ यहाँ मिल जाती हैं
अन्तिम अभिलाषा कितनी छोटी है मन की !
लेकिन कुछ लोग यहाँ हैं ऐसे भी सबके
जो आँखों में आँसू लेकर भी आते हैं
ममता के फूल चिता को अर्पित कर जाते
कुछ याद लिए जीवन में दीप जलाते हैं
पर मेरा कौन ? अकेली हूँ इस दुनिया में
जब तक भोगी थे स्थूलभद्र वे मेरे थे
योगी को कैसे कहूँ कि वे भी मेरे हैं
साधना नहीं संकुचित कभी भी हो सकती
वे सबके हैं आलोक, इस लिए मेरे हैं !
लेकिन यह कहने में आँसू आ जाते हैं
प्राणों का प्रेम छिपा लूँ कैसे मैं अपने
जीवन की वह झंकार कहाँ रख दूँ जाकर ?
बारह वर्षों का स्वप्न फेंक दूँ कहाँ, किधर ?
नारी हूँ, निज नारीत्व छोड़ दूँ मैं कैसे ?
उस जलन-ज्वाल को किसे समर्पित कर डालूँ ?
अधिकार किसे दे दूँ जो मैंने पाया था ?
उस शीतलता को अब तक ढोती फिरती हूँ !
कोशा तो कोशा ही रह गई कला-गृह में

लेकिन कोशा के प्राणनाथ ? वे चले गए
वे चले गए कोशा से कोसों दूर, दूर
उस जगह जहाँ पर अन्धकार का रूप नहीं
केवल रे केवल ज्योति जहाँ जलती रहती !
मैं नारी हूँ, उस जगह नहीं जा सकी कभी
जाना पड़ता है मानव को उस जगह स्वयं
उस कठिन तपस्या के पथ पर मैं चल न सकी
मैं छोड़ सकी निज कला नहीं, निज जीवन से !
क्या कलाकार के लिए तपस्या बड़ी कि उसकी कला श्रेष्ठ ?—
मैं यही सोचती रही साँस के झूले पर
संगीत-सृष्टि को मेरा हृदय न त्याग सका
मेरे समक्ष कर्त्तव्य यही था जीवन में
मैं नृत्य त्याग कर भी न त्याग कर सकी यहाँ
हो गई श्रमण, लेकिन अतृप्त था यह जीवन
उमड़े आँसू को रोक सकी मैं कभी नहीं
आँसू का पारावार न रोका जा सकता
रोकी जा सकती नही कभी बिजली की गति
तूफान रोक कर क्या होता उस यौवन में
रोका करता है पुरुष प्रेम की धारा को
नारी का हृदय नहीं पाषाण हुआ करता
वह नहीं छोड़ सकती है प्रेम-प्रवाह कभी !
नारी को नारी ही रहने दो हे अनन्त
तुम दिगदिगन्त की शोभा नहीं विलीन करो
फूलों को रवि का रूप बना कर क्या होगा
शबनम को गिरने दो इनकी पंखुड़ियों पर
कोमलता की बाँसुरी जला कर क्या होगा

निर्मलता की चाँदनी भरो हे कलियों पर !
जब कला आचरण की पवित्रता में होगी
तब कोई भी आलोक कला को पाएगा
क्या हृदय बुद्धि को छोड़ तपस्या हो सकती ?
क्या ज्ञान अकेला प्रभापुंज का ही वैभव ?
नारी की लता वृक्ष से नहीं लिपट सकती ?
निष्ठुर विरक्ति की ज्वाला से जलता अन्तर
सन्यास-अग्नि से आँखों का पानी जलता !
लेकिन यह क्या मैं सोच रही उनके विरुद्ध
उस कठिन साधना के सम्मुख मैं क्या बोलूँ
कोकिला नहीं आकाश छू सकी पाँखों से
वह तो उड़ जाती केवल कुंज-निकुंजों में
लेकिन स्वर का संगीत गगन को भी छता
इतना तो जान गई हूँ उड़ कर दूर, दूर
अध्यात्म-ज्योति से भौतिकता उठती ऊपर
मिट्टी का जीवन स्वर्ण सत्य पा लेता है !
स्वर्णिम चरित्र की छाया ही तो सर्व कला
संयम ही है साधना मनुज के जीवन में
अनुभूति सफल रागिनी सुविकसित प्राणों की
पर ज्ञान, लक्ष्य की स्वयं कला परिपूर्ण एक
जिस पर साधना-प्रदीप अकेला जलता है !
मैं स्थूलभद्र के संयम से हूँ बहुत दूर
मैं हास-प्यास, सुख-दुख से घिरी रही केवल
मै उतनी दूर नहीं पहुँची लेकर जीवन
इसलिए नृत्यशाला में भी वे नहीं रुके
मेरे मन का संगीत न उनको घेर सका !

लेकिन क्या मेरा प्रेम व्यर्थ ही हुआ ? हाय
पूजा के मेरे फूल कहाँ पर चले गए
जिन प्राणों के घर में सोई थी मैं चुपके
उस गृह में क्या कोशा का कुछ भी शेष नहीं ?
साक्षी रहना पाटलीपुत्र ! तुम युग-युग तक
गंगा के तट पर कोशा ने क्या दिया किसे !
वह एक प्यार--जो था पवित्रता के उर पर
वह मिला एक को ही केवल इस जीवन में
आकर्षण का सौन्दर्य देखते थे जन गण
पर मर्म समझने वाला तो वह योगी था
जिसने अपने यौवन से मुझे पुकारा था !
वह रात--घटा की एक रात
है याद अभी भी घन-गर्जन .
बिजली के फूलों की शोभा
झकझोर झोर
झंझा-झोंके
चंचल समीर
साँसें अधीर
आकुल व्याकुल प्रेमिल खगकुल
मल्लिका-लता
अधखुली यूथिका की आँखें !
उभरा-उभरा गंगा का जल
निज शयन-कक्ष का दीप विकल
वह स्नेह-स्नात अति अन्धकार
जिसकी शय्या पर था सोया
वह अलख चाँद उस पार ! प्यार

जागा था कोई नहीं और
केवल हम दोनों थे भू पर
साधारण सपनों से ऊपर
जिस जगह अधर के गीत
प्रचुम्बित प्रीत
किसी की हार
किसी की जीत !
वह निशा
देखती रही
उषा की दिशा
और, तब नींद
मिली थी मधुर
शान्ति थी प्रचुर !
नारी अपने सपने को भूल नहीं सकती
तुम भूल गए कैसे प्रिय, यह तो तुम जानो
साधना जला सकती है बीती बातों को
पर वहाँ प्रेम भी हँसता है मैं देख रही
मैं झाँक रही हूँ आज मृत्यु-वातायन से—
वह रूप, रंग, रस और गंध
उल्लास-हास, मधु मदिर मोह
ममता, चंचलता की माया
कल्पना-कुंज, इच्छा-विलास
सौन्दर्य-स्नात शत आकर्षण
यौवन-मन-विकल तरंग तरल
छवि-इन्द्रजाल, सुख-इन्द्र धनुष
जिस पर अनंग-इंगित वसन्त

सुषमा-शोभित नभ-दिगदिगन्त !—
भूलूं कैसे हे महाश्रमण !
है याद प्रणय-मन का कम्पन !
कोशा अब एक भिखारिन है
कुटिया में रहती है युग से
अब अधिक रात हो गई
मृत्यु बैठी है मन के आसपास
साँसें रुक-रुक कर चलती हैं
तन काँप रहा थर-थर-थर-थर
नयनों की ज्योति तुम्हारी ओर भटकती ह
पाटलीपुत्र के आसपास ही तो तुम हो
उस दिन कहता था एक भिक्षु
पावस में तुम हो इसी जगह
कोशा जाती अन्तिम दर्शन के लिए वहाँ
पर मेरे चरण शिथिल हैं, कम्पित हैं अब तो
फिर भी अन्तिम वंदना तुम्हारी करती हूँ
उस कला-कर्म के शेष मर्म से ही केवल !
जलता है दीपक मन्द-मन्द
अति क्षीण-शिखा से टकराते चंचल झोंके
मैं बाँध रही हूँ नूपुर अपने चरणों में
पर वाद्य नहीं,
संगीत मूक
केवल मैं ही हूँ मृत्यु-निकट !
देखो मेरा करुणान्त नृत्य
तुम नहीं देखते हो तो क्या
वह छाया तो हँसती मन पर

छाया ही देखेगी कोशा का शेष नृत्य !
झंकार वहाँ तक भी जाएगी, तुम सुनना
यह अन्तिम नृत्य तुम्हारे प्राणों को अर्पित !
दीपक बुझ गया सुनृत्य-गीत के पहले ही
उस अन्धकार में कोशा केवल नाच रही
बजती पायल रुन झुन——रुन झुन
नाचती स्वयं विद्युत भू पर
यह अन्तिम नृत्य, कला का अन्तिम अभिनय है
कोशा की मुद्राएँ प्रकाश से लिपटी हैं
अभिव्यक्ति ज्योति के द्वार-द्वार पर विचर रही
भीषण समुद्र की लहरों-सी गति उद्वेलित
तन-मन के तट पर हिलकोरें आतीं-जातीं
प्राणों की नौका स्वर्ण क्षितिज से टकराती
यात्रा का वह अरुणान्त दिखाई पड़ता है
नयनों में अश्रु नहीं, केवल आलोकपुंज
अन्तर में कुछ भी नहीं, एक उन्मुक्त प्रेम !
फट गया मेघ का अन्धकार धीरे-धीरे
चाँदनी एक आई कोशा के नूपुर पर
उस मुद्रा में ही मृत्यु चौंकती-सी आई
कोशा के प्राणों को चुपके से उठा लिया
पाटलीपुत्र की कोयल उड़ कर चली गई !
कोशा का तन गिर पड़ा भूमि पर एक बार
अधखुले नयन में चिर निद्रा आ गई स्वयं !
पाटलीपुत्र की नीरवता ने देख लिया वह एक स्वप्न
युग-युग से बिछड़ा स्थूलभद्र आया कोशा के शव-समक्ष
किसलिए यहाँ आया, इसका उत्तर तो कोशा ही देती !

वह महा श्रमण, साधक, योगी, नर्त्तकी-लाश को उठा रहा
आध्यात्म-पुरुष छ रहा कला की नारी का--
अवशेष एक जिसमें जीवन-इतिहास छिपा !
इस मिट्टी की सुन्दरता के संकेतों से
भोगी ने पहन लिया योगी का ज्योति-वस्त्र
वह देख रहा है बार-बार कोशा के दो अधखुले नयन
जिसमें भारत की महानर्त्तकी की भाषा यह कहती है--
"हे चिर पवित्र ! तुम एक बार कह दो मेरे इस शव से भी
मैं वह यात्री हूँ जिसको कोशा ने भी कुछ दिन रोका था
उस कला-कुंज में जहाँ तिमिर के संग ज्योति भी हँसती थी !"
गंगा के तट पर खड़ा-खड़ा वह स्थूलभद्र
देखता लहर पर लहर उठ रही है चंचल
उन लहरों पर जो लाश चली जाती बहती
बरसात और चाँदनी रात की छाया में
वह भी कुछ कहती चली जा रहा है देखो
जिसकी ध्वनि को केवल योगी ही सुनता है--
"मेरे प्राणों की प्यास मिट गई गंगा में
मेरी अन्तिम अभिलाषा थी इतनी ही तो
तुम ठीक समय पर आए हे मेरे योगी !
मै इसी प्रतीक्षा में थी, प्रिय तुम आओगे !"

समाप्त